विषय-सूची
(Contents)

अध्याय	पृष्ठ संख्या
1. व्यष्टिगत अर्थशास्त्र: परिभाषा एवं क्षेत्र	01- 17
2. उपभोक्ता व्यवहार विश्लेषण	18- 61
3. उत्पादन एवं लागत का सिद्धांत	62-109
4. बाजार, बाजार के प्रकार एवं संतुलन	110-138

पेपर-1

व्यष्टिगत अर्थशास्त्र (Micro Economics)

अध्याय-1

(व्यष्टिगत अर्थशास्त्र): परिभाषा एवं क्षेत्र

- अर्थशास्त्र एवं व्यष्टिगत अर्थशास्त्र (एक परिचय); अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएं एवं प्रकृति; अर्थशास्त्र का क्षेत्र ।

अध्याय-2

उपभोक्ता व्यवहार विश्लेषण

- उपभोक्ता व्यवहार; उपभोक्ता की बचत; माँग का नियम; माँग की लोच; माँग का पूर्वानुमान; माँग के पूर्वानुमान की विधियां; आय का प्रभाव; मूल्य या कीमत का प्रभाव; उदासीनता वक्र विश्लेषण;

अध्याय-3

उत्पादन एवं लागत का सिद्धान्त

- उत्पादन प्रकार्य या फलन; उत्पादन फलन समभात-समलागत सिद्धान्त; समोत्पादक वक्र तथा सर्वोत्तम साधन संयोग; तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर का नियम; परिवर्तनशील अनुपातों का नियम; लागतों की प्रकृति तथा लोच; लागतों का परंपरागत सिद्धान्त; लागतों का आधुनिक सिद्धान्त; लागतो की लोच;

अध्याय-4

बाजार, बाजार के प्रकार एवं संतुलन

- बाजार का अर्थ व परिभाषा; पूर्व प्रतियोगिता बाजार; एकाधिकार; मूल्य विभेद; अपूर्व व एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता; अल्पाधिकार;

अध्याय - 1
व्यष्टिगत अर्थशास्त्र : परिभाषा एवं क्षेत्र

संरचना

1.1 उद्देश्य (Objectives)

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

1.3 अर्थशास्त्र एवं व्यष्टिगत अर्थशास्त्र (एक परिचय)

1.4 अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएं एवं प्रकृति

1.5 अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)

- सारांश
- मूल्यांकन प्रश्न
- सन्दर्भ ग्रन्थ

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात्, विधार्थी योग्य होंगे :

- अर्थशास्त्र एवं व्यष्टिगत अर्थशास्त्र के अर्थ को समझने में।
- अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएं एवं प्रकृति को समझने में।
- अर्थशास्त्र के क्षेत्र की व्यापक जानकारी हेतु।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

अर्थशास्त्र के माध्यम से छात्रों को उन तत्वों का अध्ययन करना आवश्यक होता है जो उन्हें आगे चलकर निर्णयन में सहायक होता है। इस अध्याय के माध्यम से छात्रों को विभिन्न आर्थिक सिद्धान्त, उपभोक्ता व्यवहार एवं उपभोक्ता की बचत के विभिन्न तत्वों के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है। इस इकाई के माध्यम से छात्रों को उपयोगिता ह्रास नियम एवं सम-सीमांत उपयोगिता नियम को सविस्तार समझाया गया है जिससे वे अर्थशास्त्र में पारंगत हो सकें।

अंग्रेजी भाषा के इकॉनॉमिक्स (Economics) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन Economica या ग्रीक Oikonomia दो शब्दों – Oikos अर्थात गृह तथा Nomas अर्थात नियम के मेल से बना है। इस तरह इसका अर्थ 'गृह प्रबन्ध' है।

भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल में कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक की रचना की थी परन्तु इस पुस्तक में अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनों के ही विचार सम्मिलित थे। अरस्तू ने अपने ग्रन्थ 'इकॉनॉमिका' (Economica) में अर्थशास्त्र को परिभाषित करने का प्रयत्न किया। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों और प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने भी आर्थिक कार्य-कलापों पर अपने विचार व्यक्त किये थे।

अर्थशास्त्र का आज हम जिस रूप में अध्ययन करते हैं, वह आधुनिक अर्थशास्त्र के पिता एडम स्मिथ की देन है। 1776 ई. में एडम स्मिथ (Adam Smith) की पुस्तक 'An Enquiry into the Nature and

NOTES

Causes of Wealth of Nations' के प्रकाशन के साथ अर्थशास्त्र का एक विज्ञान के रूप में विकास आरम्भ हुआ लेकिन एक वैज्ञानिक विषय के रूप में विकसित होने के बाद भी लगभग सौ वर्षों तक इसको राजनीतिक अर्थशास्त्र के रूप में जाना जाता रहा।

18 वीं शताब्दी के अन्त तथा 19 वीं शताब्दी के मध्य (1776–1850) तक कई महान् अर्थशास्त्रियों जैसे–रिकार्डो, माल्थस, जे. बी. से ने एडम स्मिथ के विचारों का समर्थन किया। इन सभी अर्थशास्त्रियों को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री कहा जाता है। 19 वीं शताब्दी के मध्य के पश्चात् 20 वीं शताब्दी के पहले तीन दशकों (1850–1930) तक मेन्जर, मार्शल, वालरस, पीगू, कूर्नो आदि अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

1.3 अर्थशास्त्र एवं व्यष्टिगत अर्थशास्त्र (एक परिचय)

परंपरागत रूप से अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु का अध्ययन दो व्यापक शाखाओं के अंतर्गत किया जाता रहा है : ***व्यष्टि अर्थशास्त्र तथा समष्टि अर्थशास्त्र।*** व्यष्टि अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम बाजार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न आर्थिक अभिकर्ताओं के व्यवहार का अध्ययन करके यह जानने का प्रयास करते हैं कि इन बाजारों में व्यक्तियों की अंतःक्रिया द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्राएँ और कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं। इसके विपरीत समष्टि अर्थशास्त्र में हम कुल निर्गत, रोजगार तथा समग्र कीमत स्तर आदि समग्र उपायों पर अपना ध्यान केंद्रित करते हुए पूरी अर्थव्यवस्था को समझने का प्रयास करते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि समग्र उपायों के स्तर किस प्रकार निर्धारित होते हैं तथा उनमें समय के साथ परिवर्तन किस प्रकार आता है। समष्टि अर्थशास्त्र में अध्ययन के कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न इस प्रकार हैं– अर्थव्यवस्था में कुल निर्गत का स्तर क्या है? कुल निर्गत निर्धारण किस प्रकार किया जाता है? कुल निर्गत में समय के साथ किस प्रकार वृद्धि होती रहती है? क्या अर्थव्यवस्था के संसाधनों (उदाहरण वेफ लिए श्रम) का पूर्ण रूप से उपयोग किया जा रहा है? संसाधनों का पूर्ण रूप से उपयोग न होने के क्या कारण हैं? कीमतों में वृद्धि क्यों होती है? अतः जिस प्रकार व्यष्टि अर्थशास्त्र में विभिन्न बाजारों का अध्ययन किया जाता है, वैसा समष्टि अर्थशास्त्र में नहीं। समष्टि अर्थशास्त्र में हम अर्थव्यवस्था के कार्य निष्पादन की समग्र अथवा समष्टिगत उपायों के व्यवहार का अध्ययन करने का प्रयास करते हैं।

व्यष्टि अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की एक विधा है जो प्रबंधकीय निर्णय लेने में सहायक होता है। समयानुसार और परिस्थिति में परिवर्तन के फलस्वरूप व्यष्टि अर्थशास्त्र की प्रकृति और श्रेत्र में अंतर आता है। प्रबंधकीय अर्थशास्त्र को व्यावसायिक अर्थशास्त्र, व्यावसायिक प्रबंध का अर्थशास्त्र, प्रतिष्ठान का अर्थशास्त्र इत्यादि नाम से भी ज़ाना जाता है। मैकनायर एवं मेरीयाम के अनुसार, "प्रबंधकीय अर्थशास्त्र व्यावसायिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने के लिए, अर्थशास्त्र की सैद्धान्तिक विधि का प्रयोग है।"

बेट्स एवं पार्किंसन के अनुसार, "प्रबंधकीय अर्थशास्त्र फर्मों के सिद्धान्त एवं व्यवहार के बर्ताव का अध्ययन है।" दरअसल प्रबंधकीय अर्थशास्त्र व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र का रूप है।

बोल्डिंग के अनुसार 'व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र विशेष फर्मों, परिवारों, वैयक्तिक कीमतों, मजदूरियों, आयों, वैयक्तिक उद्योग तथा विशिष्ट वस्तुओं का अध्ययन है। .....जबकि समष्टिभावी अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र का वह भाग है जो कि अर्थव्यवस्था की व्यक्तिगत इकाइयों का अध्ययन न करके समूहों (Aggregates) तथा औसतों से सम्बन्ध रखता है, इन समूहों को उपयोगी ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न करता है तथा उनके सम्बन्ध की विवेचना करता है।

व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र अर्थव्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन 'सम्पूर्ण (totality) की दृष्टि' से नहीं करता है बल्कि वह विभिन्न इकाइयों का टुकड़ों के रूप में अध्ययन करता है, उनकी अलग-अलग संस्थिति की समस्या पर विचार करता है तथा उनके अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालता है जैसा चैम्बरलिन ने कहा "व्यष्टिभावी माडल पूर्णतया व्यक्तिगत व्याख्या पर आधारित है तथा इसका सम्बन्ध अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों (interpersonal relations) से भी होता है।"

लर्नर ने भी अपने दृष्टिकोण में इस प्रकार के सूक्ष्म अध्ययन पर बल दिया। लर्नर के अनुसार "व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र किसी भी अर्थव्यवस्था को उसी रूप में एक सूक्ष्मदर्शी के द्वारा देखता है, यह देखता है कि किस प्रकार आर्थिक भारीर के असंख्य कोषाणु (सेल) – उपभोक्ता के रूप में व्यक्ति या परिवार तथा उत्पादक के रूप में व्यक्ति तथा फर्म सम्पूर्ण आर्थिक संगठन के क्रियाशीलन में अपनी भूमिका अदा करते हैं।"

इस विश्लेषण के आधार पर हम निम्नलिखित शब्दों में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दे सकते हैं : *"व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र का वह व्यावहारिक पहलू है जो व्यावसायिक फर्म का अध्ययन करता है और इसकी समस्याओं को सुलझाने के लिए उचित निर्णय लेने में प्रबन्ध की मदद करता है।"*

1.4 अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएं एवं प्रकृति

जब एडम स्मिथ की पुस्तक *'An Enquiry into the Nature and Causes of Wealth of Nations'* प्रकाशित हुई थी तो उसके साथ ही अर्थशास्त्र का जन्म भी हुआ था। इस पुस्तक के प्रकाशन के लगभग एक शताब्दी तक इस नए विज्ञान को 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था' के नाम से सम्बोधित किया गया यद्यपि इस दौरान कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे नए-नए नाम देने के प्रयास भी किए थे। उदाहरणार्थ, ह्वेटले ने इसे 'Catallactics' अथवा 'विनिमय का विज्ञान' की संज्ञा दी, हार्न ने इसे 'Plutology' अथवा 'धन का विज्ञान' कहकर पुकारा और ईग्राम ने इसको 'chrematistics' अथवा 'धनोपार्जन का विज्ञान' कहकर सम्बोधित किया था। किन्तु इन प्रयासों के बावजूद 19वीं शताब्दी के मध्य तक इस विज्ञान का प्रारम्भिक नाम राजनीतिक अर्थव्यवस्था बराबर प्रचलित रहा। इसके उपरान्त इसे 'अर्थशास्त्र' का नया नाम दिया गया। अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएं हमें उपलब्ध हैं, लेकिन इनमें से कोई भी ऐसी परिभाषा नहीं जिसे पूर्णतः दोषमुक्त कहा जा सके। अन्य अर्थ में प्रत्येक परिभाषा में कोई न कोई कमी है। विभिन्न परिभाषाओं को हम चार शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं–

1. 'धन' प्रधान परिभाषाएं
2. 'कल्याण' प्रधान परिभाषाएं
3. 'दुर्लभता' प्रधान परिभाषाएं
4. 'विकास' केन्द्रित परिभाषाएं

'धन' प्रधान परिभाषाएं (Wealth Definitions)

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को 'धन का विज्ञान' कहकर परिभाषित किया। अर्थशास्त्र के पिता एडम स्मिथ ने अपनी विख्यात पुस्तक का नाम 'राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणों की खोज' रखा। उनके अनुसार, "अर्थशास्त्र राष्ट्रों के धन के स्वरूप तथा कारणों की खोज करता है।" इसी प्रकार फ्रान्सीसी लेखक जे.बी.से. के अनुसार "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो धन की विवेचना करता है।" अमेरिकी अर्थशास्त्री वाकर के अनुसार, "अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो धन से सम्बन्धित है।"

उपरोक्त विचारधारा के अर्थशास्त्र का अध्ययन विषय धन है, यह अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक चलती रही।

धन सम्बन्धी परिभाषाओं की आलोचनाएं

धन संबंधी परिभाषाएं दोषपूर्ण थी। अतएव इनकी तीव्र आलोचनाएं हुई। आलोचनाओं के प्रमुख स्तम्भ निम्नलिखित हैं :

1. इस परिभाषा के अनुसार मानव गौण हो जाता है और सम्पत्ति प्रथम हो जाती है। जबकि प्रथम स्थान मानव कल्याण को दिया जाना चाहिए। धन को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण मानव कल्याण की उपेक्षा होने लगी। यूरोप के उद्योगपतियों ने केवल धन को केन्द्र मानकर मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों को कम मजदूरी देकर उनका शोषण आरम्भ कर दिया। इसकी बुद्धिजीवियों में शेषपूर्ण प्रतिक्रिया हुई। कुछ विद्वानों ने अर्थशास्त्र और अर्थशास्त्रियों की खूब आलोचना की विलियम मौरिस, चार्ल्स डिकेन्स, जान इस्किन आदि ने, कुबेर का ग्रन्थ, और रोटी मक्खन का विज्ञान कहकर निन्दा की।

2. *अर्थशास्त्र का सीमित एवं संकुचित क्षेत्र* :– इस परिभाषा में धन शब्द का अर्थ बहुत संकुचित कर दिया गया है। इसीसे अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी संकुचित हो जाता है। धन सिर्फ भौतिक पदार्थ नहीं है इसमें कुछ ऐसी संवाएँ भी सम्मिलित है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इस परिभाषा के आधार पर तो एक सेवानिवृत व्यक्ति अर्थशास्त्र के अध्ययन में शामिल नहीं होता लेकिन माँग का नियम, प्रतिस्थापन नियम तो उस पर लागू होते हैं।

3. *अर्थ-मानव की कल्पना* – यह परिभाषा 'अर्थ-मानव' की धारणा पर आधारित है जो वास्तविकता के विपरीत है। 'साधारण' मनुष्य जिसका अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है, 'अर्थ-मानव' से कहीं भिन्न होता है। 'अर्थ-मानव' तो नैतिक औचित्य को त्यागकर सदैव विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से ही प्रेरित होता है, उस पर अन्य प्रेरणाओं का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु साधारण मनुष्य कई प्रकार की प्रेरणाओं, जैसे दया, धर्म, राजनीति इत्यादि से प्रभावित होता है। अतएव 'अर्थ-मानव' वास्तविक नहीं है और इस पर आधारित अर्थशास्त्र की परिभाषा दोषपूर्ण ही होगी।

इन आलोचनाओं के कारण 19वीं शताब्दी के अन्त में 'धन' सम्बन्धी परिभाषा को त्याग दिया गया।

'कल्याण' प्रधान परिभाषाएं (Welfare Approaches)

उन्होंने 'धन' की अपेक्षा 'मानव कल्याण' को अधिक बल देते हुए अर्थशास्त्र की परिभाषा के स्वरूप को ही बदल देने वाले डाक्टर मार्शल पहले अर्थशास्त्री थे। निस्सन्देह, 'धन' अब भी महत्त्वपूर्ण समझा जाता था किन्तु अब उसका स्थान गौण हो गया और प्रथम स्थान मानव-कल्याण को दिया जाने लगा था। डॉ. मार्शल ने स्पष्टतः कहा कि 'धन' मानव के लिए है न कि 'मानव' धन के लिए अर्थात्, धन साध्य नहीं वरन् साधन है। अर्थशास्त्र का उद्देश्य तो 'मानव-कल्याण' में वृद्धि करना है। धन गौण है, प्रथम स्थान तो मानव ही है। डॉ. मार्शल के शब्दों में, "यह (अर्थशास्त्र) एक ओर 'धन' का अध्ययन करता है और दूसरी ओर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह 'मानव' के अध्ययन का एक भाग है।" अतएव उन्होंने मानव-कल्याण को ध्यान में रखते हुए जो परिभाषा दी है :–

> "राजनीतिक अर्थव्यवस्था अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय के सम्बन्ध में मानव-जाति का अध्ययन है। यह व्यक्तिगत एवं सामाजिक क्रियाओं के उस भाग का परीक्षण करता है जिसका विशेष सम्बन्ध जीवन में कल्याण अथवा सुख से सम्बद्ध भौतिक पदार्थों की प्राप्ति एवं उपभोग से है।"

डॉ. मार्शल की परिभाषा का विश्लेषण

प्रधानतः, अर्थशास्त्र मानव का अध्ययन करता है। द्वितीय, यह मानव-जीवन के आर्थिक पहलू का अध्ययन करता है। मानव जीवन के कई पहलू होते हैं, जैसे–सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का मानव जीवन के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक पहलुओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थशास्त्र तो विशुद्धतः मानव-जीवन के आर्थिक पहलू से ही सम्बन्धित है। किन्तु एक व्यक्ति के जीवन का आर्थिक पहलू क्या होता है? स्पष्टतः आर्थिक पहलू से अभिप्राय इस तथ्य से है कि वह व्यक्ति अपनी आय कैसे कमाता है और उसे कैसे व्यय करता है। अतः अर्थशास्त्र मानव-कल्याण का नहीं, बल्कि उसके केवल एक भाग का अध्ययन करता है। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र आर्थिक अथवा भौतिक कल्याण का ही अध्ययन करता है। इसी कारण इस परिभाषा को कल्याणवादी परिभाषा भी कहा जाता है।

डॉ. मार्शल के अतिरिक्त और भी कई विख्यात अर्थशास्त्री हुए हैं जिन्होंने अर्थशास्त्र की कल्याणवादी परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं। प्रो. केनन के शब्दों में, "राजनैतिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य उन सामान्य कारणों की व्याख्या करना है जिन पर मानव का भौतिक कल्याण निर्भर रहता है।" प्रो. पीगू के कथनानुसार, "अर्थशास्त्र में आर्थिक कल्याण, सामाजिक कल्याण के उस भाग से है जिसे प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।" उन्होने इस बात पर बल दिया कि अर्थशास्त्र में आर्थिक हित का अध्ययन किया जाता है। यह धारणा अर्थशास्त्र को एक व्यावहारिक विज्ञान (Applied Science) के रूप में प्रकट करता है।

अभी हाल ही में अमरीकी अर्थशास्त्री प्रो. असीमाकोपश्लांस ने अर्थशास्त्र की कल्याण सम्बन्धी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है : "अर्थशास्त्र वह विषय है जो समाज में व्यक्तियों एवं वर्गों के भौतिक कल्याण से सम्बन्धित होता है।"

NOTES

कल्याण सम्बन्धी परिभाषाओं की आलोचनाएं

यद्यपि कल्याणवादी परिभाषा का प्रतिपादन डॉ. मार्शल एवं प्रो. पीगू जैसे सुविख्यात अर्थशास्त्रियों ने किया है तथापि यह परिभाषा पूर्णतः दोषमुक्त नहीं है। विगत कुछ वर्षों से इस परिभाषा की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गई है।

1. *अर्थशास्त्र के क्षेत्र को सीमित करना* – प्रो. रॉबिन्स के अनुसार, अर्थशास्त्र की कल्याणवादी परिभाषा अत्यंत संकुचित है क्योंकि इसमें केवल भौतिक वस्तुओं का ही समावेश है और अभौतिक वस्तुओं की उपेक्षा कर दी गई है। अतः यह परिभाषा बहुत ही असन्तोषजनक है। भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं के बीच की सीमा को वास्तविक जीवन में स्पष्टतः अंकित नहीं किया जा सकता है। भौतिक एवं अभौतिक वस्तुएँ परस्पर इस तरह जुड़ी हुई हैं कि उनको एक-दूसरे से पृथक् करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हमारे दैनिक जीवन में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ हैं जो हमारी आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करती है और मात्रा में सीमित भी है, लेकिन किसी भी अर्थ में उन्हें भौतिक वस्तुएँ नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, डाक्टरों, वकीलों, अध्यापकों इत्यादि की सेवाएं भी हैं जो मात्रा में सीमित होती है और मानव कल्याण में वृद्धि करती है, लेकिन फिर भी उनमें भौतिकता नाम की कोई चीज नहीं होती (अर्थात् वे अभौतिक होती है)। अतः प्रो. रॉबिन्स के अनुसार, अर्थशास्त्रियों को भौतिकता के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि उन सभी पदार्थों को (चाहे वे भौतिक हों अथवा अभौतिक) जो मात्रा में सीमित हैं और मानवीय आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करते हैं, अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री में सम्मिलित करना चाहिए।
2. *अर्थशास्त्र के अध्ययन को केवल भौतिक साधनों तक सीमित करना* – प्रो. रॉबिन्स ने कल्याणकारी अर्थशास्त्रियों की परिभाषा में एक और अन्य त्रुटि भी बतायी है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार, अर्थशास्त्र केवल भौतिक कल्याण के कारणों की व्याख्या करता है, जबकि विचित्र बात यह है कि इनकी एक अभौतिक परिभाषा प्रस्तुत की है। उन्होंने एडम स्मिथ द्वारा प्रतिपादित उत्पादक एवं अनुत्पादक श्रम के बीच के अन्तर को अस्वीकार कर दिया है और इस अन्तर को अवास्तविक बताया है। उन्होंने अपनी ओर से उत्पादक एवं अनुत्पादक श्रम के बीच एक नया अन्तर प्रस्तुत किया है। इस अन्तर के अनुसार समाज के कुछ सदस्यों, जैसे–अध्यापकों, वकीलों, डॉक्टरों और गायकों का श्रम तो उत्पादक है और इसी नाते वह अर्थशास्त्र का अविच्छिन्न अंग हैं। स्पष्ट है कि इन सदस्यों की सेवाएं अभौतिक है लेकिन फिर भी उन्हें अर्थशास्त्र का अविच्छिन्न अंग माना जाता है।
3. *अर्थशास्त्र का भौतिक कल्याण से सम्बन्ध स्थापित करना मिथ्या है* – कल्याणवादी अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र और भौतिक कल्याण के बीच जो सम्बन्ध स्थापित किया है, प्रो. रॉबिन्स ने उसकी भी ओलाचना की है। उनके कथनानुसार अर्थशास्त्र का भौतिक कल्याण से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थशास्त्र तो बहुत सी ऐसी क्रियाओं का अध्ययन करता है जिनका भौतिक कल्याण से दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता। जो लोग नशीली वस्तुओं (जैसे शराब, अफीम आदि) का निर्माण करते हैं उनकी ये क्रियाएं निश्चय ही आर्थिक क्रियाएं है। क्या ये क्रियाएं भौतिक कल्याण में वृद्धि करती है? कदापि नहीं। लेकिन फिर भी अर्थशास्त्री इन क्रियाओं का अध्ययन करते हैं क्योंकि इनका सम्बन्ध दुर्लभ वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण से है। इन्हीं के माध्यम से मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इस प्रकार, कल्याणवादी अर्थशास्त्रियों की उक्त परिभाषा अन्तर्विरोधी प्रतीत होती है।

   प्रो. केनन के अनुसार, 'युद्ध की राजनीतिक अर्थव्यवस्था' का विचार निश्चय ही विरोधाभास है। उनका यह तर्क उचित प्रतीत होता है कि चूँकि युद्ध भौतिक कल्याण में वृद्धि नहीं करता और अर्थशास्त्र केवल भौतिक कल्याण से ही सम्बन्धित है, अतः युद्ध अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री नहीं बन सकता।

NOTES

कल्याणवादी अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को जो 'भौतिक कल्याण' का विचार प्रदान किया है, वह वास्तव में अन्तर्विरोधी एवं अस्थिर विचार है।

4. *परिमाणात्मक रुप में भौतिक कल्याण को मापना सम्भव नहीं* – 'कल्याणवादी' परिभाषा की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि भौतिक कल्याण को परिमाणात्मक रूप से मापना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रो. पीगू मुद्रा को भौतिक कल्याण के मापने का साधन मानते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या मुद्रा भौतिक कल्याण को सन्तोषजनक ढंग से माप सकती है? कदापि नहीं। यदि दो व्यक्ति किसी एक वस्तु के लिए समान कीमत चुकाते हैं तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उन दोनों व्यक्तियों को उस वस्तु के उपभोग से 'समान' उपयोगिता एवं 'समान' कल्याण प्राप्त होता है। सम्भव है कि इन दोनों में से एक व्यक्ति धनी हो और दूसरा गरीब। स्पष्टतः इन दोनों व्यक्तियों को वस्तु के उपभोग से जो उपयोगिताएं प्राप्त होती हैं, वे समान नहीं हो सकतीं।

5. *अर्थशास्त्र विशुद्ध रुप से सामाजिक विज्ञान नही है* – 'कल्याणवादी' परिभाषा की आलोचना इस कारण भी की जा सकती है कि यह परिभाषा अर्थशास्त्र को विशुद्धतः एक सामाजिक विज्ञान बना देती है। दूसरे शब्दों में, यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाए तो अर्थशास्त्र मानव का साभाजिक प्राणी के रूप में अध्ययन करेगा। ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र केवल उन्हीं व्यक्तियों की क्रियाओं का अध्ययन करेगा जो समाज के सदस्य हैं और समाज में विचरण करते हैं, अर्थशास्त्र सामाजिक विज्ञान के रूप में उन व्यक्तियों की समस्याओं का अध्ययन नहीं करेगा जो शेष समाज से पृथक् हो गये हैं। ऐसी परिस्थिति में रॉबिन्स क्रूसो अथवा हिमालयवासी साधु-संन्यासी की क्रियाएं अर्थशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र से बाहर रहेंगी, क्योंकि ये दोनों ही व्यक्ति समाज की सदस्यता से विमुक्त हो चुके हैं। 'कल्याणवादी' परिभाषा में इस प्रकार का विचार निश्चयात्मक रूप से निहित है। लेकिन क्या हम इस विचार को स्वीकार कर सकते हैं? नहीं। प्रो. रॉबिन्स के कथनानुसार अर्थशास्त्र के आधारमूलक नियम रॉबिन्सन क्रूसो अथवा हिमालयवासी साधु-सन्यासी पर भी ठीक उसी प्रकार लागू होते हैं जिस प्रकार वे समाज के नियमित सदस्यों पर लागू हैं। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र का प्रतिस्थापन-नियम एक मूलभूत नियम है जो समाज और समाज से बाहर वालों सब पर लागू होता है।

6. *परिभाषा विश्लेषणात्मक न हो कर वर्गात्मक है* – अन्ततः प्रो. रॉबिन्सन ने 'कल्याणवादी' परिभाषा की इस आधार पर भी आलोचना की है कि यह परिभाषा विश्लेषणात्मक न होकर वर्गात्मक है। 'कल्याणवादी' अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मानवीय क्रियाओं के एक निश्चित वर्ग से है, न कि प्रत्येक क्रिया के एक निश्चित पहलू से। इस प्रकार 'कल्याणवादी' अर्थशास्त्री समस्त मानवीय क्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित करते हैं – (1) आर्थिक क्रियाएं और (2) गैर-आर्थिक क्रियाएं। लेकिन मानव-क्रियाओं के इस वर्गीकरण को प्रो. रॉबिन्सन 'तर्कहीन' एवं 'अवैज्ञानिक' कहकर अस्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक क्रिया का गैर-आर्थिक पहलू भी हो सकता है। अतः मानव-क्रियाओं का कोई कठोर वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। मानव-क्रियाओं का ऐसा वर्गीकरण करने के बजाए अर्थशास्त्रियों को इनके एक निश्चित पहलू पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वह कौन सा पहलू है? प्रो. राबिन्सन के अनुसार, अर्थशास्त्रियों को मानव-क्रियाओं के उस पहलू पर ध्यान देना चाहिए जो साधनों की दुर्लभता से प्रभावित होता है।

इन आलोचनाओं के कारण प्रो. रॉबिन्स ने 'कल्याणवादी' परिभाषा को अस्वीकार कर दिया है। इसके स्थान पर उन्होंने एक नयी परिभाषा का निर्माण किया है। उनका दावा है कि उनके द्वारा प्रस्तुत परिभाषा उपर्युक्त सभी दोषों एवं आलोचनाओं से सर्वथा मुक्त है। चूंकि प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा 'उद्देश्यों' की तुलना में 'साधनों की दुर्लभता' पर अधिक बल देती है, इसीलिए आर्थिक साहित्य में इसे 'दुर्लभता' परिभाषा की संज्ञा दी जाती है।

दुर्लभता अथवा सीमितता प्रधान परिभाषाएं

सन् 1932 में प्रो. रॉबिन्स की महान् पुस्तक An Essay on the Nature and Significance of Economic Science के प्रकाशन के उपरान्त अर्थशास्त्रियों में अर्थशास्त्र की परिभाषा के सम्बन्ध में एक नया विवाद उत्पन्न हो गया था। इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व तो ऐसा प्रतीत होता था कि डॉ. मार्शल ने परिभाषा की समस्या का स्थायी तौर पर समाधान ही कर दिया था। सन् 1932 से पूर्व जितने भी बड़े-बड़े अर्थशास्त्री हुए उन सभी ने डॉ. मार्शल की परिभाषा को लगभग पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया था। लेकिन प्रो. रॉबिन्स की पुस्तक के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र की पुरानी एवं परम्परागत परिभाषा में अर्थशास्त्रियों का विश्वास अब डगमगाने लगा। वे इस परिभाषा को सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगे। प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा इस प्रकार है –

"अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो लक्ष्यों तथा उनके सीमित एवं वैकल्पिक उपयोगों वाले साधनों के परस्पर सम्बन्धों के रूप में मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है।"

इस परिभाषा में तीन मूल तत्त्व पाये जाते हैं। अर्थशास्त्र का समूचा ढांचा इन तीनों तत्त्वों पर ही आधारित है। ये तीनों तत्त्व हैं – उद्देश्य, दुर्लभ साधन, एवं वैकल्पिक उपयोग।

1. *उद्देश्य* – उद्देश्य से यहां अभिप्राय है मानवीय आवश्यकताओं से। जैसा कि हम अपने अनुभव से जानते हैं, हमारी आवश्यकताएं असीमित हैं। यदि किसी एक आवश्यकता को सन्तुष्ट किया जाता है तो दूसरी उठ खड़ी होती है। आवश्यकताओं की इस अनेकता के कारण हम अपनी सभी आवश्यकताओं को पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं कर सकते। चूंकि वे असीमित होती है, इसलिए हमें अधिक आग्रहपूर्ण और कम आग्रहपूर्ण आवश्यकताओं के बीच चयन करना पड़ता है।

2. *दुर्लभ साधन* – यद्यपि आवश्यकताएं असंख्य हैं लेकिन उन्हें सन्तुष्ट करने के उपलब्ध साधन अत्यन्त सीमित होते हैं। चूंकि अधिकांश वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग की तुलना में दुर्लभ होती है, इसीलिए तो आर्थिक समस्या उत्पन्न होती है। प्रो. मिल्टन फ्रीडमेन के अनुसार, "यदि साधन दुर्लभ न होते तो आर्थिक समस्या ही न होती। तब तो विश्व निर्वाण की स्थिति में होता।"

   'दुर्लभता' शब्द को हम सापेक्ष अर्थ में ले रहे है, निरपेक्ष अर्थ में नहीं। 'दुर्लभ' पूर्ति से ही कोई वस्तु दुर्लभ नहीं हो जाती। मान लीजिए, किसी वस्तु की पूर्ति कम है लेकिन उसकी माँग बिल्कुल नहीं है। क्या ऐसी वस्तु को हम 'दुर्लभ' कहेंगे? कदापि नहीं। जैसा कि प्रो. रॉबिन्स ने कहा है, गन्दे अण्डे यद्यपि अच्छे अण्डों की तुलना में संख्या में कम होते हैं लेकिन उन्हें 'दुर्लभ' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गन्दे अण्डों की कुछ भी माँग नहीं होती। इस प्रकार यदि उनकी माँग को ध्यान में रखा जाए तो गन्दे अण्डे 'दुर्लभ' नहीं कहे जा सकते। इसके विपरीत, यद्यपि विश्व की मण्डियों में करोड़ों टन खाद्यान्न उपलब्ध है लेकिन फिर भी खाद्यान्न 'दुर्लभ' ही कहे जाते हैं, क्योंकि उनकी माँग उनकी पूर्ति की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। अतः किसी वस्तु की 'दुर्लभता' अथवा 'प्रचुरता' वस्तु की माँग को ध्यान में रखकर ही निश्चित की जाती है।

3. *दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक उपयोग* – प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा का तीसरा तत्त्व यह है कि उपलब्ध दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक उपयोग होने चाहिए। यदि किसी वस्तु को एक ही उपयोग में लाया जा सकता है तो उसके उपयोग के बारे में कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होगी। लेकिन वास्तविक जीवन में किसी वस्तु का कोई एक उपयोग न होकर उसके अनेक उपयोग होते हैं। उस वस्तु की कुल माँग इतनी अधिक हो जाती है कि वर्तमान पूर्ति उसे सन्तुष्ट करने में अपर्याप्त सिद्ध होती है। परिणामतः वह वस्तु आर्थिक महत्त्व की हो जाती है।

प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा में यह बात भी निहित है कि वस्तु के वैकल्पिक उपयोग समान महत्त्व के होने चाहिए अर्थात् उनमें महत्त्व का अन्तर होना चाहिए। कुछ उपयोग कम और कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण होने चाहिए। यदि सभी उपयोग समान महत्त्व के होंगे तो यह चयन करना कठिन हो जाएगा कि अमुक वस्तु को किस विशेष उपयोग में लगाया जाए।

NOTES

स्पष्ट है कि आर्थिक समस्या तब तक उत्पन्न नहीं होगी जब तक उपर्युक्त तीनों शर्तें पूरी नहीं होतीं। उद्देश्यों की अनेकता अथवा साधनों की दुर्लभता अथवा दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक उपयोगों को पृथक्-पृथक् रूप में लेने पर आर्थिक समस्या कभी उत्पन्न नहीं होती। आर्थिक समस्या तो तभी उत्पन्न होती है जब इन तीनों शर्तों को एक साथ ही समय पर पूरा किया जाए।

आर्थिक विश्लेषण में 'अवसर' लागत अथवा 'विस्थापन' लागत धारणा एक महत्त्वपूर्ण धारणा समझी जाती है। यह धारणा "उद्देश्यों की अनेकता" एवं "साधनों की स्वल्पता" का प्रत्यक्ष परिणाम है। चूँकि 'उद्देश्य' असंख्या और 'साधन' सीमित होते हैं, अतएव व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के लिए चयन करना अनिवार्य हो जाता है। यदि हम किसी एक विकल्प को अपनाते हैं तो हमें दूसरे विकल्प का परित्याग करना पड़ता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति की जेब में दो रुपए का नोट है। इससे वह व्यक्ति या तो सिनेमा देख सकता है या कोई अखिल भारती क्रिकेट मैच देख सकता है, लेकिन दो रुपए से वह दोनों का आनन्द नहीं ले सकता। यदि वह सिनेमा देखता है तो सिनेमा देखने की 'अवसर' अथवा 'विस्थापन' लागत क्रिकेट मैच होगी। इसके विपरीत, यदि वह क्रिकेट मैच देखता है तो क्रिकेट मैच की 'अवसर' अथवा 'विस्थापन' लागत सिनेमा होगी। इस प्रकार किसी वस्तु की 'अवसर' लागत वह वस्तु होती है जिसका उस वस्तु की प्राप्ति के लिए परित्याग किया जाता है।

ये परिभाषा इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें चयन महत्त्वपूर्ण है। चयन इसलिए क्योंकि हमारे उद्देश्य तो असंख्य होते है। लेकिन हमारे साधन सीमित मात्रा में होते हैं, अतः हमें चयन करना ही पड़ता है चयन की समस्या, वास्तव में एक सार्वभौमिक समस्या है। प्रो. एरिक रोल के अनुसार चयन की समस्या सभी प्रकार के समाज एवं समुदायों में उत्पन्न होती है। रॉबिन्सन क्रूसों को भी इस समस्या का सामना करना पड़ा था। केन्द्रीय अफ्रीका की जंगली एवं असभ्य जातियों को भी इस समस्या से जूझना पड़ता है। आधुनिक पूंजीवादी अमरीका एवं साम्यवादी रूस में भी यह समस्या उत्पन्न होती है। चयन की समस्या सार्वभौमिक ही नहीं, बल्कि सार्वकालिक भी है। मध्यकालीन एवं सामन्तवादी यूरोप में भी यह समस्या उठी थी। जब तक 'उद्देश्य' असंख्य और 'साधन' सीमित हैं, चयन की समस्या समाज में उठती ही रहेगी। प्रो. रोल के कथानुसार रॉबिन्स की परिभाषा के व्युत्पादित नियम सभी प्रकार के समुदायों पर लागू होते हैं। चयन के नियम गुरुत्वाकर्षण के नियमों की भांति सभी प्रकार के समुदायों पर क्रियाशील होते हैं।

"भौतिक कल्याणवाद' पर आधारित इस परिभाषा ने अर्थशास्त्र की सारी संरचना को धराशायी कर दिया है। इसके स्थान पर प्रो. रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र की एक नवीन संगठन का निर्माण किया है। इसकी दो आधारशिलाएं हैं (1) उद्देश्यों की अनेकता, और (2) साधनों की दुर्लभता। यह परिभाषा सार्वभौमिक है यह सभी देशों में लागू होती है। पूंजीवाद अमरीका तथा साम्यवादी रूस दोनों पर प्रो. मेकफाई रॉबिन्स की परिभाषा से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं। उनका कहना है कि रॉबिन्स की परिभाषा अन्तिम है। इस विषय पर और कुछ कहने की गुंजाइश नहीं है।

'दुर्लभता' परिभाषा का मुख्य लाभ यह है कि इसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को स्पष्ट रूप से सीमांकन कर दिया है। इस परिभाषा ने अर्थशास्त्र के क्षेत्र के चारों ओर एक दीवार सी खड़ी कर दी है। इस चारदीवारी के कारण अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बारे में अब कोई सन्देह नहीं रह गया है। अर्थशास्त्र का क्षेत्र अब पूर्णतः स्पष्ट हो गया है। यदि उद्देश्यों की अनेकता एवं साधनों की दुर्लभता के परिणामस्वरूप कोई समस्या उत्पन्न होती है तो निश्चय ही वह समस्या आर्थिक समस्या होगी और उसका अध्ययन एवं विश्लेषण अर्थशास्त्र का विषय होगा।

इस परिभाषा के परिणामस्वरूप अर्थशास्त्र अब एक प्रतिष्ठित विज्ञान बन गया है। इस 'दुर्लभता' परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र का उद्देश्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उद्देश्य चाहे अच्छे हों अथवा बुरे, अर्थशास्त्री उनका चयन नहीं करते। अतएव प्रो. रॉबिन्स के कथनानुसार अर्थशास्त्र में उद्देश्यों का अध्ययन नहीं किया जाता। अर्थशास्त्री तो केवल ऐसी परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं जिनमें उद्देश्य 'अनेक' एवं साधन 'दुर्लभ' होते हैं। वे किसी भी देश में उद्देश्यों का चयन नहीं करते हैं और न ही वे उद्देश्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर अपना मत व्यक्त करते हैं।

प्रो. राबिन्स की विचारधारा का समर्थन करने वालों में प्रो० फिलिप विकस्टीड, वान मिसेज, डॉ० स्ट्रिग्ल, सेमुएलसन, कोहन, शॉन फेल्ड, मैक्सवैबर आदि थे जिन्होनें उससे मिलते-जुलते विचारों की अभिव्यक्ति की।

दुर्लभता सम्बन्धी परिभाषाओं की आलोचनाएं

'कल्याणवादी' परिभाषा की भांति 'दुर्लभता' परिभाषा भी आलोचना रहित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि बहुत से वर्तमान अर्थशास्त्री प्रो. रॉबिन्स के अनुयायी हैं लेकिन निश्चय ही कुछ विख्यात अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं जो प्रो रॉबिन्स की परिभाषा की कटु आलोचना करते हैं। जिनमें कैनन, क्लार्क, रैक्सफोर्ड, प्रो० ऐमान, ए० एल० मैक्फाई, वूटन, फेगर तथा राबर्टसन थे।

1. ***कल्याण की परिभाषा में दुर्लभता का अप्रत्यक्ष विचार निहित*** – आलोचकों का कहना है कि प्रो. रॉबिन्स 'कल्याणवादी' परिभाषा का तो इतना तीव्र विरोध करते हैं लेकिन यह नहीं समझते कि 'कल्याणवाद' की धारणा स्वयं उनकी अपनी परिभाषा में भी सन्निहित है। 'दुर्लभता' परिभाषा में अधिकतम सन्तुष्टि का विचार निश्चय ही सन्निहित है। इस परिभाषा के अनुसार 'अनेक' उद्देश्य एवं 'दुर्लभ' साधनों के बीच समायोजन इस ढंग से किया जाना चाहिए कि व्यक्ति अथवा राष्ट्र को अधिकतम लाभ अथवा कल्याण की प्राप्ति हो सके।

2. ***उद्देश्यों के प्रति तटस्थता*** – श्रीमती बारबरा वूटन, सर विलियम बैवरिज, प्रो. डरबिन तथा प्रो. फ्रेजर जैसे सुविख्यात मार्शलवादी अर्थशास्त्री उद्देश्यों के प्रति प्रो. रॉबिन्स के तटस्थ रवैये को तनिक भी पसन्द नहीं करते। उनका कहना है कि अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक अध्ययन के लिए प्रो. रॉबिन्स की 'दुर्लभता' परिभाषा अत्यन्त संकुचित सिद्ध हुई है। इसने अनावश्यक रूप में अर्थशास्त्र को संकीर्ण बना दिया है। उपर्युक्त मार्क्सवादी अर्थशास्त्री किसी भी दशा में अर्थशास्त्र को आचारशास्त्र से पृथक् नहीं करना चाहते, जबकि प्रो. रॉबिन्स अर्थशास्त्र एवं आचारशास्त्र के बीच एक ऊँची दीवार खड़ी करना चाहते हैं।

3. ***अर्थशास्त्र केवल विशुद्ध विज्ञान ही नहीं*** – आलोचकों का कहना है कि यदि हम प्रो. रॉबिन्स की 'दुर्लभता' परिभाषा को स्वीकार कर लेते हैं तो अर्थशास्त्र निश्चय ही एक विशुद्ध विज्ञान बन जाएगा। ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र केवल आर्थिक नियमों का निर्माण मात्र करेगा, व्यावहारिकता से इसका सम्बन्ध पूर्णतः नष्ट हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र का विशुद्ध विज्ञान व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में हमारी तनिक भी सहायता नहीं करेगा। इससे अर्थशास्त्र का भारी अहित होगा। आलोचकों के कथनानुसार अर्थशास्त्रियों का कर्तव्य केवल उपकरणों (यन्त्रों) का निर्माण करना ही नहीं, बल्कि उनका प्रयोग करना भी है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में श्रीमती बारबरा वूटन ने यह शिकायत की है कि अर्थशास्त्री अपना अधिकांश समय सैद्धान्तिक उपकरणों के निर्माण मात्र में व्यय कर देते हैं, उन उपकरणों का व्यावहारिक प्रयोग करने में वे कुछ भी समय नहीं लगाते। वास्तव में यह बहुत ही खोजजनक बात हैं व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में अर्थशास्त्रियों को निश्चय ही अपना सहयोग देना चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं करते तो उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती है। यह उल्लेखनीय है कि प्रो. रॉबिन्स अपनी पुस्तक Economic Planning and International Order में स्वयं आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के सुझाव प्रस्तुत करते हैं। ऐसा करने से अर्थशास्त्र का विशुद्ध रूप निश्चय ही समाप्त हो जाता है। वास्तव में, यदि कोई सामाजिक विज्ञान व्यावहारिक समस्याओं का समाधान नहीं करता तो उसके अस्तित्व का कोई औचित्य ही नहीं रहता। इस दृष्टिकोण से 'दुर्लभता' परिभाषा संकीर्ण प्रतीत होती है।

4. ***आर्थिक समस्या केवल दुर्लभता के कारण ही नहीं अपितु प्रचुरता के कारण भी*** – प्रो. रॉबिन्स के कथनानुसार आर्थिक समस्या सदैव 'दुर्लभता' के कारण उत्पन्न होती है : किन्तु आलोचकों का कहना है कि आर्थिक समस्या 'प्रचुरता' के परिणामस्वरूप भी उत्पन्न हो सकती है। जैसा कि विदित है, सन् 1930 की महान् मन्दी के दौरान विभिन्न देशों में आर्थिक समस्याएँ 'दुर्लभता' के कारण नहीं, बल्कि वस्तुओं की 'प्रचुरता' अथवा उनके अति उत्पादन के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई थीं।

5. ***परिभाषा का स्थैतिक दृष्टिकोण***– जैसा कि आलोचकों ने बताया है, प्रो. रॉबिन्स की परिभाषा का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह स्थैतिक प्रकृति की है। इसी कारण इसे पर्याप्त नहीं माना जाता है। आलोचकों के कथनानुसार रॉबिन्स ने 'दुर्लभता समस्या' के प्रति पूर्णतया स्थैतिक दृष्टिकोण अपनाया

NOTES

है। इस परिभाषा के अनुसार दुर्लभ साधनों तथा साध्यों में किसी प्रकार का कोई भी परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में एक प्रावैगिक समस्या के प्रति रॉबिन्स का यह दृष्टिकोण अत्यन्त स्थैतिक प्रतीत होता है। हमारे गतिशील समाज में साधनों एवं साध्यों दोनों में ही परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं। सत्य तो यह है कि कालान्तर में साध्यों के परिवर्तित होने की बड़ी सम्भावना रहती है। इनके साथ-साथ साधनों की भी वृद्धि तथा उनका विकास होता रहता है। दुर्भाग्य से रॉबिन्स की परिभाषा 'दुर्लभता' समस्या के इस पहलू की उपेक्षा कर देती है।

6. *आर्थिक विकास के सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं* – रॉबिन्स ने अपनी परिभाषा में आर्थिक विकास के सिद्धान्तों की घोर उपेक्षा की है। यदि देखा जाए तो आधुनिक जगत में, विशेष रूप में अल्पविकसित तथा विकसित अर्थव्यवस्थाओं की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने की है अर्थात् देश की राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि करने की है जिसकी रॉबिन्स ने घोर उपेक्षा की।

7. *बेरोजगारी की समस्या का कोई समाधान नहीं* – रॉबिन्स की परिभाषा में बेरोजगारी की समस्या की कोई व्याख्या नहीं की गई है जो आज के युग की सबसे महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर समस्या है। आज मानव-शक्ति असीम मात्रा में उपलब्ध है न कि दुर्लभता में। इसके विपरीत अर्थशास्त्र, रॉबिन्स के अनुसार, दुर्लभता का अध्ययन है।

8. *बहुत संकुचित एवं बहुत व्यापक दृष्टिकोण* – राबर्टसन के अनुसार, "रॉबिन्स की परिभाषा एक साथ बहुत संकुचित तथा बहुत व्यापक है।" यह अत्यन्त संकुचित तो इसलिए है क्योंकि यह संगठनात्मक दोषों को सम्मिलित नहीं करती है जिससे साधन निष्क्रिय हो जाते हैं। दूसरी ओर यह बहुत व्यापक इसलिए है कि दुर्लभ साधनों को दिए गए लक्ष्यों में विभाजित करने की समस्या ऐसी है जो उन क्षेत्रों में भी उत्पन्न हो सकती है जो अर्थशास्त्र के अधिकार क्षेत्र के बाहर है।

   हो सकता है कि परीक्षा में छात्र के पेन की स्याही समाप्त हो जाने पर, खेल के मैदान में किसी खिलाड़ी के घायल हो जाने पर, युद्ध के मैदान में कमाण्डर की मृत्यु हो जाने पर, दुर्लभ साधनों की समस्या का सामना करना पड़ जाए। इस प्रकार प्रो. रॉबिन्स की दुर्लभता-स्थापना अनार्थिक समस्याओं पर भी लागू हो सकती है और अर्थशास्त्र के क्षेत्र को बहुत व्यापक बना देती है।

विकास केंद्रित परिभाषाएं (Development Centred Definitions)

रॉबिन्स की परिभाषा अपने सीमित क्षेत्र में आर्थिक विकास की महत्त्वपूर्ण समस्या को सम्मिलित नहीं करती और एक प्रावैगिक समस्या के प्रति पूर्णतया स्थैतिक रुख अपनाती है। हाल ही के वर्षों में प्रो. सैम्युएलसन द्वारा प्रस्तुत अपनी परिभाषा में रॉबिन्स की परिभाषा के अन्तर्निहित दोष अथवा कमी को दूर करने का प्रयास किया गया है। सैम्युएलसन की परिभाषा का सबसे बड़ा गुण यह है कि कालान्तर में 'साधनों' एवं 'साध्यों' में होने वाले गतिशील परिवर्तनों को यह परिभाषा पूर्ण मान्यता देती है। अतः इसे 'विकासोन्मुखी' परिभाषा कहना सर्वथा उचित ही है। सैम्युएलसन की परिभाषा निम्नवत् है :

> "अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि व्यक्ति और समाज अनेक प्रयोगों में लगाए जा सकने वाले उत्पादन के सीमित साधनों का चुनाव, एक समयावधि में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में लगाने एवं उनको समाज में विभिन्न व्यक्तियों और समूहों में उपभोग हेतु वर्तमान तथा भविष्य में बांटने के लिए किस प्रकार करते हैं; ऐसा वे चाहे मुद्रा का प्रयोग करके करें अथवा इसके बिना करें।"

उपर्युक्त परिभाषा की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं–

1. रॉबिन्स और सैम्युएलसन के बीच बहुत कुछ समानता पाई जाती है। रॉबिन्स की भाँति सैम्युएलसन ने भी असीमित साध्यों के प्रति सीमित साधनों की समस्या पर बल दिया है। साधन सीमित ही नहीं है, बल्कि उन्हें वैकल्पिक प्रयोगों में भी लगाया जा सकता है।

2. जहाँ राबिन्स की परिभाषा स्थैतिक है वहीं सैम्युएलसन की परिभाषा 'समय' के समावेश से प्रावैगिक बन गई है। इस बात की पुष्टि परिभाषा का गहन अध्ययन करने से हो जाती है। सैम्युएलसन की परिभाषा में निम्न वाक्यांशों का प्रयोग किया गया है : "एक समयावधि में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन" तथा "उनका वर्तमान एवं भविष्य में वितरण"। ये वाक्यांश समय-तत्त्व से ही सम्बन्धित है। इनसे परिभाषा *का प्रावैगिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। सैम्युएलसन की परिभाषा के अनुसार विकास की समस्या स्वतः* ही अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित हो जाती है। बस इसी कारण सैम्युएलसन की परिभाषा रॉबिन्स की परिभाषा से श्रेष्ठ है।

3. सैम्युएलसन की परिभाषा केवल प्रावैगिक ही नहीं है, बल्कि इसका क्षेत्र भी रॉबिन्स की परिभाषा की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। यह परिभाषा एक ऐसी अर्थव्यवस्था पर भी लागू होती है जिसमें वस्तु-विनिमय प्रणाली *का प्रचलन होता है। (स्मरण रहे इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में मुद्रा का पूर्ण अभाव होता है।) यह कहना* सही नहीं है कि चुनाव अथवा किफायत की समस्या केवल मौद्रिक अर्थव्यवस्था में ही उत्पन्न होती है। वस्तु-विनिमय प्रणाली वाली अर्थव्यवस्था में भी दुर्लभता की समस्या उत्पन्न होती है। इसमें भी साध्यों की तुलना में साधन सीमित होते हैं। अतः सैम्युएलसन की परिभाषा वस्तु-विनिमय प्रणाली वाली अर्थव्यवस्था पर भी उसी तरह लागू होती है जिस तरह यह मौद्रिक अर्थव्यवस्था पर क्रियाशील होती है।

4. *सैम्युएलसन की परिभाषा की मुख्य बात यह है कि चुनाव की समस्या का उसके प्रावैगिक रूप में उल्लेख* करती है। चुनाव की समस्या वर्तमान से ही नहीं बल्कि भविष्य से भी सम्बन्धित होती है। जैसा कि हम जानते है, मानवीय आवश्यकताएं कभी भी स्थिर अथवा स्थैतिक नहीं होतीं। कालान्तर में उनका स्वरूप बदलता रहता है। केवल उनका स्वरूप नहीं बदलता, बल्कि उनकी संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती रहती है। आस्वादों, अभिरुचियों एवं फैशनों में होने वाले परिवर्तन मानवीय आवश्यकताओं के स्वरूप को ही बदल देते हैं। मानवीय आवश्यकताओं के वृद्धि के परिणामस्वरूप उन्हें सन्तुष्ट करने हेतु आवश्यक साधनों में भी आनुपातिक वृद्धि करनी पड़ती है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो आर्थिक साधन पिछड़ जाएंगे। अतः अर्थशास्त्र का स्वरूप निवार्यतः प्रावैगिक हो जाता है। यही कारण है कि समाज की बदलती एवं बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थशास्त्रियों को साधनों, आय, उत्पादन एवं रोजगार की वृद्धि पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। अतः अर्थशास्त्र असीमित साध्यों के सन्दर्भ में सीमित साधनों के आबंटन तथा आय, उत्पादन, रोजगार एवं आर्थिक विकास के निर्धारकों का अध्ययन है। वास्वत में, यही अर्थशास्त्र की सही परिभाषा है।

श्री. के. जी. सेठ के अनुसार, "अर्थशास्त्र उस मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है जिसका सम्बन्ध साध्यों के संदर्भ में परिवर्तनों एवं विकास से होता है।"

निष्कर्षत : – सभी परिभाषाओं में से सैम्युएलसन की परिभाषा सबसे अधिक सन्तोषजनक है। यह परिभाषा चुनाव *की समस्या को उसके प्रावैगिक रूप से व्यक्त करती है। आय, उत्पादन, रोजगार एवं आर्थिक विकास आदि की* समस्याओं को अर्थशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित करके यह परिभाषा उसके क्षेत्र को विस्तृत कर देती है। यही नहीं, सैम्युएलसन की प्रदत्त यह परिभाषा सार्वभौमिक भी है। यह सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं–अतीतकालीन, वर्तमान एवं भावी अर्थव्यवस्थाओं पर समान रूप में लागू होती है। यह परिभाषा वैचारिक मतभेदों से भी परे है क्योंकि यह पूंजीवादी, मिश्रित, समाजवादी एवं साम्यवादी सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं पर क्रियाशील होती है। चूँकि अपने *प्रावैगिक स्वरूप में चुनाव की समस्या सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं में उत्पन्न होती है, अतः इस परिभाषा का* सार्वभौमिक महत्त्व है। वास्तव, में सैम्युएलसन की यह परिभाषा सभी परिभाषाओं में से सर्वाधिक स्वीकार्य है। अर्थशास्त्र का क्षेत्र कभी भी सम्पूर्ण एवं अन्तिम नहीं होता। कालान्तर में इसमें परिवर्तन होते रहते हैं। यहां तक कि अर्थशास्त्र की 'विकास' परिभाषा का स्थान भी भविष्य में कोई अन्य परिभाषा ले सकती है।

NOTES

1.5 अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)

अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र भी वाद-विवाद का ही विषय है। अर्थशास्त्र के विषय-क्षेत्र की विवेचना करते समय हमें यह बताना होगा कि अर्थशास्त्र विज्ञान है अथवा कला? क्या अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान? क्या आर्थिक विषयों के बारे में अर्थशास्त्री अपना नैतिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकते हैं? यह अभी भी वाद-विवाद का विषय बना हुआ है।

अर्थशास्त्र – विज्ञान के रूप में (Economics — As a Science)

अर्थशास्त्र 'विज्ञान' है या नहीं – इसका निर्णय करने से पूर्व हमें यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि 'विज्ञान' से अभिप्राय क्या है। विज्ञान मानव-ज्ञान का एक क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित भण्डार है जो कारण तथा परिणाम के पारस्परिक सम्बन्ध की खोज करता है। स्मरण रहे कि विज्ञान केवल तथ्यों का समूह नहीं होता। प्रो. पोइनकेयर के शब्दों में, "जिस प्रकार मकान पत्थरों से बनता है, ठीक उसी तरह विज्ञान तथ्यों से निर्मित होता है; लेकिन जिस प्रकार पत्थरों के ढेर मात्र से मकान नहीं बन जाता, ठीक उसी तरह केवल तथ्यों के समूह से विज्ञान का निर्माण नहीं हो जाता।" दूसरे शब्दों में विज्ञान का निर्माण करने के लिए हमें तथ्यों का क्रमबद्ध रूप से संग्रह, वर्गीकरण तथा विश्लेषण करना चाहिए। विज्ञान की उक्त परिभाषा को अर्थशास्त्र पर लागू करते हुए हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि अर्थशास्त्र भी मानव-ज्ञान की वह शाखा है जिसमें तथ्यों का क्रमबद्ध रूप से संग्रह, वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया जाता है। इस दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र पूर्णरूपेण एक विज्ञान है : विज्ञान की एक अन्य विशेषता यह है कि इसकी विषय-सामग्री मापनीय होनी चाहिए। कुछ वैज्ञानिक तो मापनीयता पर बहुत जोर देते हैं। लॉर्ड केलविन ने एक बार कहा था कि "जब आप अपने विषय को मापकर संख्यात्मक आंकड़ों में व्यक्त करते हैं तो निश्चय ही आप उसे समझते हैं, लेकिन जब आप विषय को मापने और संख्यात्मक आंकड़ों में व्यक्त करने में असमर्थ रहते हैं तो उसके बारे में आपकी जानकारी अपर्याप्त और असन्तोषजनक ही होती है। आइए, अब हम देखें कि अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री कहां तक मापनीय है। जैसा कि सर्वविदित है, अर्थशास्त्री के पास मौद्रिक मापदण्ड है जिसकी सहायता से वह व्यक्तिगत एवं व्यापारिक उद्देश्यों को माप सकता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि अर्थशास्त्र को – 'विज्ञान' का प्रतिष्ठित दर्जा (स्तर) इसलिए नहीं दिया जा सकता क्योंकि अर्थशास्त्रियों में एकमत का अभाव रहता है। वास्तव में, श्रीमती बारबरा वूटन का अर्थशास्त्र के विरुद्ध यही एक मुख्य आरोप है। उनके कथनानुसार, "यदि किसी स्थान पर छः अर्थशास्त्री एकत्रित होते है।" तो वहां उनके सात मत होंगे। अर्थात् एक अर्थशास्त्री ऐसा भी होगा जिसके एक ही विषय पर दो मत होंगे। क्या ऐसी परिस्थिति में अर्थशास्त्र को विज्ञान कहना उचित होगा? इसमें सन्देह नहीं कि आधारमूलक समस्याओं पर भी अर्थशास्त्रियों में मतैक्य का अभाव है। लेकिन इसी कारण अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रखना भी उचित प्रतीत नहीं होता।

कुछ अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र को विज्ञान के प्रतिष्ठित दर्जे से इस आधार पर वंचित रखना चाहते हैं कि यह शास्त्र रसायनशास्त्र एवं भौतिकशास्त्र की भांति भावी घटनाओं की सही-सही भविष्यवाणी नहीं कर सकता। यह सत्य है कि भौतिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों की भांति अर्थशास्त्र भावी घटनाओं की सही भविष्यवाणी नहीं कर सकता। यह भी सत्य है कि अर्थशास्त्र द्वारा प्रस्तुत भविष्यवाणियां बहुधा मिथ्या सिद्ध हुई हैं। लेकिन इसके लिए हम अर्थशास्त्र अथवा अर्थशास्त्रियों को दोषी नहीं ठहरा सकते और न ही इस आधार पर हम अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रख सकते हैं। अर्थशास्त्र भावी घटनाओं की सही भविष्यवाणी करने में इसलिए असमर्थ है क्योंकि इसमें असंख्य जटिल तत्त्वों का अध्ययन करना पड़ता है। इनमें से कुछ तत्त्व तो ऐसे हैं जिनके बारे में भविष्यवाणी की ही नहीं जा सकती। अर्थशास्त्र मानव से भी जुड़ा है, और उसका व्यवहार स्वतंत्र है इस बारे में भविष्यवाणी नहीं हो सकती उदाहरणार्थ, लॉर्ड कीन्स ने सन् 1930 में भविष्यवाणी की थी कि न्यूयार्क स्टॉक एक्सचेंज पर कीमतों की गिरावट शीघ्र ही समाप्त हो जाएगी और उसके उपरान्त अमरीका का तेजी से औद्योगिकीकरण होगा। किन्तु यह भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई। कीमतें गिरती चली गयी। अमरीका सहित समूचा विश्व महान मन्दी के गड्ढे में जा गिरा। लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रखने के लिए

उक्त आधार उचित है? यदि यह आधार उचित है तो मौसम विज्ञान को भी 'विज्ञान' नहीं माना जा सकता क्योंकि ऋतु संबंधी भविष्यवाणियां अक्सर गलत सिद्ध होती हैं। क्या हम इसी आधार पर मौसम विज्ञान को 'विज्ञान' के दर्जे से वंचित रख सकते हैं? कदापि नहीं। वास्तविकता तो यह है कि ऋतु-भविष्यवाणियों की अपेक्षा आर्थिक भविष्यवाणियाँ अधिक विश्वसनीय होती है। भावी तूफानों की अपेक्षा भावी आर्थिक मन्दी के बारे में अधिक विश्वसनीय भविष्यवाणी की जा सकती है। अतः मानव-ज्ञान की किसी शाखा को 'विज्ञान' के दर्जे से इस कारण वंचित नहीं रखना चाहिए कि उसमें सही-सही भविष्यवाणी करने की सामर्थ्य का होना 'विज्ञान' की कोई आवश्यक विशेषता नहीं है। इसके बिना भी मानव-ज्ञान की कोई भी शाखा 'विज्ञान' का दर्जा प्राप्त कर सकती है यदि इसमें अन्य विशेषताएं पाई जाती हैं।

हमारे विचार में अर्थशास्त्र 'विज्ञान' कहलाने का पूर्ण अधिकारी है। जो लोग अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक स्वरूप को चुनौती देते हैं वे मानो मूर्खों के स्वर्ग में विचरण कर रहे हैं।

अर्थशास्त्र – कला के रूप में (Economics — As An Art)

'कला' भी 'विज्ञान' की भांति ज्ञान का व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध भण्डार है। लेकिन 'कला' में एक विशेषता होती है जो 'विज्ञान' में नहीं पाई जाती। 'कला' सदैव निश्चित नियमों का निर्माण करती है और विशिष्ट हल प्रस्तुत करती है। जैसा कि प्रो. जे. एम. केंज ने कहा है, "कला वह प्रणाली है जो किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नियम सुझाती है। कला का उद्देश्य ऐसे नियमों का निर्माण करना है जिन्हें तुरन्त व्यावहारिक नीति पर लागू किया जा सके। 'विज्ञान' तो केवल 'सैद्धांतिक' ही होता है जबकि 'कला' सदैव 'व्यावहारिक' होती है। प्रो. कौसा के शब्दों में, "विज्ञान हमें सैद्धान्तिक ज्ञान की शिक्षा देता है जबकि कला हमें व्यावहारिक क्रियाओं का प्रशिक्षण प्रदान करती है। संक्षेप में, विज्ञान केवल व्याख्या ही करता है जबकि कला लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नियमों का प्रतिपादन करती है।" इस परिभाषा को यदि अर्थशास्त्र पर लागू किया जाए तो हम देखेंगे कि यह 'कला' भी है। अर्थशास्त्र की अनेक शाखाएं हैं जो आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में हमें व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रदान करती है। उपभोग का प्रतिस्थापन नियम हमें यह बताता है कि अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि कैसे प्राप्त कर सकते हैं। अतः अर्थशास्त्र 'विज्ञान' एवं 'कला' दोनों ही है। इसे केवल 'विज्ञान' अथवा केवल 'कला' कहना उचित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ अर्थशास्त्री इसे केवल 'विज्ञान' ही मानते हैं। उनका कहना है कि उसे केवल विज्ञान मानकर ही हम इसके वैज्ञानिक स्वरूप का निर्माण कर सकते है। 'विज्ञान' के साथ-साथ यदि हम इसे 'कला' भी मान लेते है तो विज्ञान स्वरुप में बाधाएँ आ सकती है। अर्थशास्त्र का कलात्मक रुप भी अधूरा हो सकता है लेकिन प्रो. कौसा के शब्दों में, "विज्ञान को कला और कला को विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।"

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विज्ञान और कला एक दूसरे के पूरक हैं। किसी बात का क्रमबद्ध ज्ञान तो विज्ञान है और व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के लिए उस ज्ञान का क्रमबद्ध उपयोग कला है। अतः बुद्धिमत्ता इसी में है कि अर्थशास्त्र को 'विज्ञान' तथा 'कला' दोनों एक साथ मान लिया जाए। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का भी यही मत है।

अर्थशास्त्र – विशुद्ध एवं व्यावहारिक (Economics — Pure And Practical)

कुछ अर्थशास्त्री अर्थ-विज्ञान को 'विज्ञान' तथा 'कला' एक साथ न मानकर इसे दो वर्गों में विभाजित करते हैं – (1) विशुद्ध अर्थशास्त्र और (2) व्यावहारिक अर्थशास्त्र। वास्तव में, डॉमार्शल ने ही सर्वप्रथम यह भेद किया था। आजकल तो विशुद्ध अर्थशास्त्र एवं व्यावहारिक अर्थशास्त्र का यह वर्गीकरण बहुत ही लोकप्रिय हो चुका है। हमारे विचार में यह वर्गीकरण अर्थशास्त्र के विज्ञान एवं कला के पुराने वर्गीकरण से अधिक वैज्ञानिक है। इससे अर्थशास्त्र को समझने में अपेक्षाकृत अधिक सुविधा रहती है। दूसरे, अन्य विज्ञानों में भी तो ऐसा ही वर्गीकरण किया जाता है। प्रो. बई के शब्दों में, "विशुद्ध विज्ञान तो उपकरणों की व्यवस्था है। व्यावहारिक विज्ञान उन उपकरणों की सहायता से समस्याओं का समाधान करता है। दोनों एक दूसरे के पूरक है। विशुद्ध विज्ञान का स्थान प्रथम और व्यवहारिक विज्ञान का स्थान दूसरा है। विशुद्ध विज्ञान के बिना व्यावहारिक विज्ञान का काम चल नहीं सकता।

NOTES

पिछले कुछ वर्षों में अर्थशास्त्रियों ने व्यावहारिक अर्थशास्त्र के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया है। ब्रिटेन एवं अमरीका में व्यावहारिक अर्थशास्त्र पर अनेक पुस्तकें छपी है। व्यावहारिक अर्थशास्त्र की यह लोकप्रियता शायद — उस रॉबिन्सवाद की प्रतिक्रिया है जो अर्थशास्त्र को केवल विशुद्ध विज्ञान ही मानता है। युवा पीढ़ी के अर्थशास्त्री अब अपना ध्यान अधिकाधिक व्यावहारिक अर्थशास्त्र पर ही केन्द्रित कर रहे है। इसके साथ ही वे वर्तमान सामाजिक समस्याओं का समाधान करने का प्रयास भी कर रहे हैं। वस्तुतः व्यावहारिक अर्थशास्त्र आज विशुद्ध अर्थशास्त्र से भी अधिक लोकप्रिय बन गया है। प्रो. जॅर्ज स्टिगलर के अनुसार सैद्धान्तिक अर्थशास्त्री वह होता है जो अपने कुल व्यावसायिक समय का आधे से अधिक भाग आर्थिक समस्याओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों के निर्माण में लगाता है।

अर्थशास्त्र सकारात्मक एवं आदर्शक विज्ञान के रूप में

यह विवादास्पद विषय है कि अर्थशास्त्र सकारात्मक विज्ञान है या आदर्शक सभी इस बात पर सहमत हैं कि अर्थशास्त्र सकारात्मक विज्ञान है। लेकिन क्या अर्थशास्त्र एक आदर्श विज्ञान भी है – इस विषय पर अर्थशास्त्रियों में निश्चित मतभेद है। यह मतभेद शायद उतना ही पुराना है जितना कि अर्थशास्त्र स्वयं। अतीत काल में इस विषय पर भारी विवाद चला था और अर्थशास्त्री दो स्पष्ट सम्प्रदायों में विभाजित हो गए थे। ब्रिटेन के क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि अर्थशास्त्र विशुद्धतः एक सकारात्मक विज्ञान है और अर्थशास्त्रियों को आर्थिक विषयों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर टीका टिप्पणी करने का कोई अधिकार नहीं है। इसके विपरीत, जर्मनी के ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों का सुनिश्चित मत था कि किसी भी दशा में अर्थशास्त्र अपने आपको आचारशास्त्र से पृथक् नहीं कर सकता अर्थात् अर्थशास्त्रियों को आर्थिक विषयों के औचित्य एवं अनौचित्य पर अपना मत व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार है।

उक्त विवाद को भली भांति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले 'सकारात्मक' एवं 'आदर्शक' विज्ञानों के अर्थ जानने का प्रयास करें। प्रो. जे. एन. कीन्स ने इन दोनों के अन्तर को व्यक्त करते हुए कहा है कि "सकारात्मक विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान का भण्डार है जो इस बात की व्याख्या करता है कि वस्तुएँ कैसी हैं; आदर्शक विज्ञान क्रमबद्ध ज्ञान का वह भण्डार है जो इस बात की व्याख्या करता है कि वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए। सकारात्मक विज्ञान का सम्बन्ध वास्तविक स्थिति से होता है, आदर्शक विज्ञान का सम्बन्ध आदर्श स्थिति से होता है। सकारात्मक विज्ञान का उद्देश्य नियमों की स्थापना करना है; आदर्शक विज्ञान का उद्देश्य आदर्शों का निर्माण करना है।"

दूसरे शब्दों में, 'सकारात्मक' विज्ञान वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप की ही व्यवस्था करता है; यह वस्तुओं के कारणों एवं उनके परिणामों की ही विवेचना करता है, किन्तु उद्देश्यों के प्रति यह पूर्णतः तटस्थ रहता है। यह उद्देश्यों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर कुछ भी मत व्यक्त नहीं करता। वास्तव में, नैतिकता से इसे कोई सरोकार नहीं है। इसके विपरीत, आदर्शक विज्ञान तो इस बात की व्याख्या करता है कि वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए। आदर्शक विज्ञान उद्देश्यों की नैतिकता अथवा अनैतिकता पर अपनामत व्यक्त करने का पूर्ण अधिकार रखता है। 'सकारात्मक' तथा 'आदर्शक' विज्ञानों के बीच के अन्तर को उदाहरणों द्वारा और भी अधिक स्पष्ट कर सकते हैं। व्याज की दर कैसे निर्धारित होती है? कौन-सी शक्तियां हैं जो इसे प्रभावित करती हैं? यदि इस विषय के सम्बन्ध में हम कोई जांच करें तो निश्चय ही इस प्रकार की जांच सकारात्मक अर्थशास्त्र में सम्मिलित की जाएगी। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की जांच वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप से ही सम्बन्धित होती है। व्याज की उचित दर क्या होनी चाहिए। यदि इस विषय के सम्बन्ध में कोई जांच की जाती है तो निश्चय ही वह जांच आदर्श विज्ञान का अभिन्न अंग होगी। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की जांच वस्तुओं के आदर्शक स्वरूप से सम्बन्धित होती है। व्याज की उचित दर की विवेचना करते समय इस आचारशास्त्र की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें नैतिकता के विचार को निश्चय ही ध्यान में रखना है। स्मरण रहे कि आदर्शक विज्ञान अ[illegible] नैतिकता से पृथक् नहीं कर सकता। इसे प्रत्येक विषय पर नैतिक दृष्टिकोण से विचार करना पड़ता है। इसके विपरीत, सकारात्मक विज्ञान के लिए नैतिक दृष्टिकोण आवश्यक नहीं है। यह तो अपने आपको आचारशास्त्र से पूर्णतः पृथक् कर देता है। मिल्टन प्राफ्इडमैन के अनुसार सकारात्मक अर्थशास्त्र हमें यह बतलाता है कि आर्थिक समस्या का समाधान कैसे किया

जाए। इसके विपरीत, आदर्शक अर्थशास्त्र हमें यह बतलाता है कि आर्थिक समस्या का हल कैसा होना चाहिए। सकारात्मक कथन तथ्यों पर आधारित होता है। इसके विपरीत, आदर्शक कथन में आदर्शक मूल्यों का समावेश भी किया जाता है।

ब्रिटेन का क्लासिकल सम्प्रदाय आर्थिक विश्लेषण को आचारशास्त्र से पूर्णतः अलग रखने के पक्ष में था। इसके विपरीत जर्मनी का ऐतिहासिक सम्प्रदाय अर्थशास्त्र को आचारशास्त्र से सम्बद्ध करने पर निरन्तर जोर देता था। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उक्त विवाद की तीव्रता कुछ कम हो गई थी। किन्तु सन् 1932 में प्रो. रॉबिन्स ने "An Essay on the Nature and Significance of Economic Science" नामक पुस्तक को प्रकाशित करके इस विवाद को पुनर्जीवित कर दिया था। स्मरण रहे, प्रो. रॉबिन्स विशुद्ध तर्कवाद तथा सकारात्मक अर्थशास्त्र के कट्टर समर्थक हैं। अर्थशास्त्र के विषय-क्षेत्र तथा उसकी अध्ययन विधि से सम्बन्धित उनके विचार बिल्कुल वैसे ही हैं जैसे कि प्राचीन ब्रिटिश क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के थे। उनमें तनिक भी अन्तर नहीं है। रॉबिन्सवाद मानो एक पुरानी शराब है जिसे नयी बोतलों में भर दिया गया है। रॉबिन्स के अनुयायी अर्थशास्त्र का सकारात्मक स्वरूप बनाए रखना चाहते हैं। वे निम्नलिखित आधारों पर इसका समर्थन करते हैं –

1. अर्थशास्त्र में दो प्रकार की जांच हो सकती है। प्रथम वस्तुएँ कैसी हैं? दूसरे, वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए? प्रो. रॉबिन्स के अनुयायियों का कहना है कि यदि इन दोनों प्रकार की जांचों को जोड़ दिया जाए तो ऐसा करने से जांचकर्ता भ्रम में पड़ जाएगा उनके कथनानुसार यदि इन दोनों प्रकार की जांच को पृथक् नहीं किया जाता तो अर्थशास्त्र का वैज्ञानिक आधार ही समाप्त हो जाएगा। उदाहरणार्थ, ब्याज की दर कैसी निर्धारित होगी? यदि इस विषय पर विचार करते समय हम यह भी सोचने लगें कि ब्याज की उचित दर क्या होनी चाहिए तो इससे हमारे विषय के अध्ययन में अनावश्यक बाधा पड़ेगी। अतः इन दोनों प्रकार की जांच को अलग ही रखा जाए तो अच्छा होगा। दूसरे शब्दों में, अर्थशास्त्र के सकारात्मक स्वरूप को स्वतन्त्र बनाए रखा जाना चाहिए।
2. रॉबिन्सवादी अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यदि अर्थशास्त्र को विशुद्ध सकारात्मक विज्ञान नहीं माना जाता तो निश्चय ही इसकी प्रगति खतरे में पड़ जाएगी। वस्तुएँ कैसी हैं? – जहाँ तक इस जांच का सम्बन्ध है अर्थशास्त्रियों में कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि इस प्रकार की जांच पूर्णतः तथ्यों पर आधारित होती है और तथ्यों के बारे में मतभेद नहीं हुआ करते। वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए? इस पर मतभेद हो सकता है क्योंकि वांछनीयता का प्रश्न आ जाता है।
3. रॉबिन्सवादियों का तीसरा तर्क यह है कि यदि अर्थशास्त्री सैद्धान्तिक (वस्तुएँ कैसी हैं) तथा व्यावहारिक (वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए) दोनों प्रकार की जांच का विलीनीकरण कर देता है तो इससे जनता के गुमराह हो जाने की सम्भावना बढ़ जाएगी। यदि अर्थशास्त्री विशुद्ध सैद्धान्तिक नियम का प्रतिपादन करता है तो इस बात की आशंका है कि कहीं जनता उसे व्यावहारिक मार्गदर्शन में असफल न समझ बैठे। जनता द्वारा इस प्रकार का निर्वाचन करना अप्राकृतिक नहीं होगा जब तक कि अर्थशास्त्री अपने नियमों तथा सूत्रों के बीच स्पष्ट भेद नहीं करता। अर्थशास्त्री निश्चित रूप में ऐसा भेद करके ही जनता में फैले संभ्रम को दूर कर सकता है।

क्लासिकल एवं नव–क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को सकारात्मक अर्थशास्त्र के प्रति असीमित अनुराग था। ब्रिटिश अर्थशास्त्री सीनियर ने तो यहां तक कह दिया था कि "अर्थशास्त्री को परामर्श का एक शब्द भी कहने का अधिकार नहीं।" प्रो. रॉबिन्स ने उद्देश्यों के प्रति प्राचीन क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की तटस्थता का पुनः समर्थन कर दिया है उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि उद्देश्यों की वांछनीयता अथवा अवांछनीयता से अर्थशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके शब्दों में, "अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सुनिश्चित तथ्यों से है जबकि आचारशास्त्र का सम्बन्ध मूल्यों एवं अधिबन्धनाओं से हैं ये दोनों शास्त्र एक दूसरे से पृथक् हैं।"

लेकिन वर्तमान अर्थशास्त्रियों में बहुत से ऐसे हैं जो अर्थशास्त्र एवं आचारशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्री को अपने निष्कर्षों के औचित्य अथवा अनौचित्य पर टिप्पणी करने का पूर्ण अधिकार है। प्रो. हॉट्रे ने तो यहां तक कह दिया है कि "अर्थशास्त्र एवं आचारशास्त्र को पृथक् नहीं

किया जा सकता।" प्रो. फ्रेजर का कहना है कि "अर्थशास्त्र केवल मूल्य सिद्धान्त अथवा सन्तुलन–विश्लेषण ही नहीं, बल्कि कुछ और भी है।" दूसरे शब्दों में इसे नैतिकता से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार का अर्थशास्त्र नितान्त काल्पनिक होगा अथवा गैर वैज्ञानिक होगा। गैर–मनोवैज्ञानिक अर्थशास्त्र तो हैमलेट के उस नाटक की भांति होगा जिसमें हैमलेट की कोई भूमिका ही नहीं। अर्थात् मनोविज्ञान के बिना अर्थशास्त्र किसी काम का नहीं। प्रो. पॉल स्ट्रीटन भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अर्थशास्त्रियों को नैतिक दृष्टिकोण अपनाने में संकोच नहीं करना चाहिए अन्यथा उनका विज्ञान कोरा औपचारिक तर्कवाद ही बनकर रह जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदर्शक अर्थशास्त्र का पक्ष काफी सुदृढ़ है। इसके अलावा, यदि हम चाहें तो भी अर्थशास्त्र को पूर्णतः सकारात्मक नहीं बना सकते। आखिर अर्थशास्त्री भी तो रक्त और मांस का ही बना हुआ है। वह भी आवेश एवं पक्षपात से विमुक्त नहीं है। वह कितना ही दृढ प्रयास क्यों न करे, निजी सम्पत्ति संस्था अथवा आदर्श आर्थिक प्रणाली जैसे विषयों की विवेचना करते समय वह आवेश एवं पक्षपात से पिण्ड नहीं छुड़ा सकता अर्थात् उसके आवेश तथा पक्षपात का निश्चय ही उसके अध्ययन पर प्रभाव पड़ेगा। अध्ययन करते समय वह अपने व्यक्तित्त्व को ताक में नहीं रख सकता। उसके निजी विचारों का निश्चय ही इसके निष्कर्षों पर प्रभाव पड़ेगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अर्थशास्त्र में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक जांच के परिणामों का विलीनीकरण कर दिया जाए। 'वस्तुएँ कैसी हैं?' अथवा 'वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए?' – इन दोनों प्रकार की जांच के परिणामों को यथासम्भव पृथक् ही रखना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थशास्त्र का विषय-क्षेत्र कितना व्यापक एवं विस्तृत है। सारांशतः अर्थशास्त्र के क्षेत्र में निम्नलिखित शाखाओं को सम्मिलित किया जा सकता है –

1. **सकारात्मक अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्त अथवा आर्थिक विश्लेषण** – वस्तुएँ कैसी हैं? इस विषय का अध्ययन सकारात्मक अर्थशास्त्र में किया जाता है। इस प्रकार, सकारात्मक अर्थशास्त्र में हम आर्थिक नियमों एवं सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं।
2. **नैतिक अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्त अथवा आर्थिक उद्देश्यों का अध्ययन** – वस्तुएँ कैसी होनी चाहिए? – इस विषय का अध्ययन आदर्शक अर्थशास्त्र में किया जाता है।
3. **व्यावहारिक अर्थशास्त्र** – इसमें हम उन विधियों एवं साधनों का अध्ययन करते हैं जिनके माध्यम से आर्थिक उद्देश्यों को व्यवहार में परिणत किया जाता है।
4. **आर्थिक इतिहास** – जैसा कि प्रो. जे. एम. कीन्स ने कहा है, "आर्थिक इतिहास अतीतकालीन आर्थिक घटनाओं का अध्ययन है। इसमें अतीतकाल में होने वाली आर्थिक प्रगति का क्रमबद्ध अध्ययन करते हैं।"
5. **आर्थिक विचारों का इतिहास** – प्रो. शुम्पीटर के अनुसार अर्थशास्त्र की इस शाखा में आर्थिक घटनाओं को समझने हेतु मानव द्वारा अतीतकाल में किए गए बौद्धिक प्रयासों का अध्ययन किया जाता है। दूसरे शब्दों में इसमें आर्थिक चिन्तन के विश्लेषणात्मक अथवा वैज्ञानिक पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। वास्तव में, यह अर्थ-विज्ञान के विकास के इतिहास का अध्ययन है।

सारांश

- अंग्रेजी भाषा के इकॉनॉमिक्स (Economics) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन Economica या ग्रीक Oikonomia दो शब्दों – Oikos अर्थात गृह तथा Nomas अर्थात नियम के मेल से बना है। इस तरह इसका अर्थ 'गृह प्रबन्ध' है।
- परंपरागत रूप से अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु का अध्ययन दो व्यापक शाखाओं के अंतर्गत किया जाता रहा है : ***व्यष्टि अर्थशास्त्र तथा समष्टि अर्थशास्त्र।*** व्यष्टि अर्थशास्त्र के अंतर्गत हम बाजार में उपलब्ध विभिन्न वस्तुओं तथा सेवाओं के परिप्रेक्ष्य में [illegible] आर्थिक अभिकर्ताओं के व्यवहार का अध्ययन करके यह जानने का प्रयास करते हैं कि इन बाजारों में [illegible] की अंतःक्रिया द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं की मात्राएँ और कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं।

- प्रो. रॉबिन्स के अनुसार "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो लक्ष्यों तथा उनके सीमित एवं वैकल्पिक उपयोगों वाले साधनों के परस्पर सम्बन्धों के रूप में मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है।"

NOTES

मूल्यांकन प्रश्न

1. अर्थशास्त्र की सन्क्षेप मे व्याख्या कीजिए।
2. व्यष्टि अर्थशास्त्र को परिभाषित कीजिए।
3. अर्थशास्त्र की दुर्लभता अथवा सीमितता प्रधान परिभाषाएं दीजिए।
4. क्या अर्थशास्त्र एक विज्ञान है ? वर्णन करें।
5. व्यष्टि अर्थशास्त्र की विशेषता लिखें।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- प्रेम आहूजा एवं एच. एल. आहूजा : *उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त* ; एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली (हिन्दी एवं अग्रेजी)।
- प्रो. वी. सी. सिन्हा; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; प्रयाग पुस्तक भवन; इलाहाबाद ।
- एस. एन. लाल एवं एस. के. लाल; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; शिव पब्लिशिंग हाउस; इलाहाबाद ।
- बी. पी. त्यागी; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; राज पब्लिशिंग हाउस; जयपुर ।
- M.L. Jhingan; *Microeconomic theory*; Vrinds Publication (P) Ltd. Delhi; (Hindi & English).
- अमिताभ तिवारी एवं बद्री विशाल त्रिपाठी; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; किताब महल, इलाहाबाद।

NOTES

अध्याय - 2

उपभोक्ता व्यवहार विश्लेषण

(Consumer's Behaviour Analysis)

संरचना

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 उपभोक्ता व्यवहार (Consumer's Behaviour)
— उपयोगिता विश्लेषण
— उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility)
2.4 उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)
2.5 माँग का नियम (Law of Demand)
2.6 माँग की लोच (Elasticity of Demand)
— माँग की कीमत लोच
— माँग की प्रति लोच
— माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)
2.7 माँग का पूर्वानुमान (Demand Forecasting)
2.8 माँग के पूर्वानुमान की विधियाँ
2.9 आय का प्रभाव (Income Effect)
2.10 मूल्य या कीमत का प्रभाव (Price Effect)
2.11 उदासीनता वक्र विश्लेषण (Indifference Curve Approach)
— उदासीनता वक्र का स्वभाव
— उदासीनता वक्र विश्लेषण की मान्यतायें
— उदासीनता वक्रों के लक्षण अथवा विशेषतायें
- सारांश
- मूल्यांकन प्रश्न
- सन्दर्भ ग्रन्थ

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात्, विधार्थी योग्य होंगे :

- उपभोक्ता व्यवहार के बारे में विस्तृत जानकारी से परिचित होने में।
- उपयोगिता ह्रास नियम एवं सम-सीमान्त उपयोगिता नियम से परिचित होने में।
- माँग का नियम, माँग की कीमत लोच, आय लोच, प्रति लोच को समझने में।
- माँग की लोच के महत्व तथा प्रभावित करने वाले तत्वों के बारे में जानने में।
- उदासीनता वक्र विश्लेषण समझने में।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

NOTES

उपभोक्ता व्यवहार सिद्धाँत को दो प्रकार से समझा जा सकता है इसका एक पहलू है सामूहिक (aggregative) दूसरा है व्यय (expenditure) इस रुप को रोजगार में स्पष्ट रुप से समझेगें। यहाँ केवल व्यय पहलू को लिया जा रहा है। और व्यय पहलू के दो भाग है (1) सीमान्त उपयोगिता–विश्लेषण, और (2) उदासीन वक्र–विश्लेषण।

इस अध्याय में हम प्रथम विश्लेषण (सीमान्त उपयोगिता–विश्लेषण) का ही विवेचन करेंगे।

2.3 उपभोक्ता व्यवहार (Consumer's Behaviour)

किसी वस्तु या सेवा के बारे में खरीदने, उसका विश्लेषण करने इत्यादि सम्बंधित उपभोक्ता के व्यवहार को उपभोक्ता व्यवहार कहते हैं। किसी वस्तु के क्रय या उसकी माँग या उसके उपभोग की मात्रा के सम्बन्ध में कोई उपभोक्ता विभिन्न परिस्थितियों में किस प्रकार से व्यवहार करता है, इसे हम उपभोक्ता का व्यवहार कहते हैं। उस वस्तु का मूल्य जिसकी माँग, या उपभोग के सम्बन्ध में हम अध्ययन करना चाहते हैं, उपभोक्ता की आय, अन्य वस्तुओं का मूल्य, रूचि तथा फैशन, उपभोक्ता की सम्पत्ति, भविष्य में आय प्रवाह तथा उसकी निश्चितता आदि ऐसे प्रमुख चर हैं जो किसी उपभोक्ता के व्यवहार को प्रभावित करते हैं। उपभोक्ता के व्यवहार के सिद्धांत वस्तुतः इसी के विश्लेषण से सम्बन्धित होते हैं की कोई भी उपभोक्ता इन चरों के परिवर्तन के सन्दर्भ में किस प्रकार व्यवहार करता है अर्थात् यदि इन चरों में परिवर्तन हो तो इसका क्या प्रभाव वस्तु की माँग पर पड़ता है।

उपभोक्ता के व्यवहार के अध्ययन की समस्या को प्रमुख रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. सीमित साधनों के विभिन्न आवश्यकताओं या साध्यों के बीच बंटवारे की समस्या जिससे उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि या संस्थिति की स्थिति को प्राप्त कर सके। इसे हम संस्थिति निर्धारण की समस्या कह सकते हैं।
2. उपभोक्ता के व्यवहार को प्रभावित करने वाले विभिन्न चरों को एक-एक करके परिवर्तित करके देखना कि इनके परिवर्तन का क्या प्रभाव उपभोक्ता के व्यवहार या उस वस्तु के उपभोग या माँग पर पड़ता है। इस समस्या को हम मांग विश्लेषण (Demand Analysis) का नाम देते हैं।

इस प्रकार संस्थिति निर्धारण तथा माँग विश्लेषण दोनों परस्पर सम्बन्ध एक ही समस्या के दो रूप हैं।

उपभोक्ता के व्यवहार का प्रारम्भ ही एक सरल प्रश्न के साथ होता है और वह यह कि कोई उपभोक्ता किसी वस्तु की माँग क्यों करता है या किसी वस्तु को क्रय क्यों करता है? कोई उपभोक्ता किसी वस्तु की माँग (या क्रय) इसलिए करता है क्योंकि वस्तु में उसकी आवश्यकता की सन्तुष्टि की क्षमता होती है जैसे फल में भूख को पूरा करने की क्षमता। आवश्यकता की सन्तुष्टि की किसी वस्तु की यह क्षमता ही उस वस्तु की उपयोगिता कहलाती है। स्पष्ट है किसी वस्तु से मिलने वाली उपयोगिता ही उपभोक्ता के व्यवहार के विश्लेषण की मूल कड़ी होगी।

उपयोगिता विश्लेषण

प्रत्येक विवेकपूर्ण उपभोक्ता, अपनी दी हुई आय तथा विभिन्न वस्तुओं के दिए हुए बाजार मूल्य के साथ, अपनी आय को इस प्रकार से व्यय करने का प्रयास करता है जिससे उसे अधिकतम सम्भावित सन्तुष्टि या उपयोगिता प्राप्त हो सके। यह अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति ही उपभोक्ता की संस्थिति की स्थिति होगी क्योंकि इस स्थिति की प्राप्ति के बाद उपभोक्ता उपने व्यवहार में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहेगा। 'उपयोगिता का अधिकतम' करना ही उपभोक्ता के व्यवहार का निर्देशक सिद्धांत है। अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि उपभोक्ता अपनी आय से क्रय की जाने वाली 'वस्तुओं के विभिन्न संयोगों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना कर सके, क्योंकि जब तक वह विभिन्न संयोगों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना नहीं कर सके, तब तक वह अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति प्राप्त ही नहीं कर सकेगा।'

NOTES

उपयोगिता (Utility)

'उपयोगिता' या 'तुष्टिगुण' का अभिप्राय किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति से है। यह ऐसा आन्तरिक गुण है, जो किसी व्यक्ति द्वारा इच्छा की जाने वाली सभी वस्तुओं में पाया जाता है। वस्तु की वह शक्ति या क्षमता, जिससे किसी व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से की जाती है, उपयोगिता कहलाती हैं जिन वस्तुओं में मानव आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की यह शक्ति पायी जाती हैं उन्हे 'उपयोगी वस्तु' कहा जाता है।

'आवश्यकता–पूर्ति की शक्ति' के दो अर्थ हो सकते हैं – *(अ)* सन्तुष्टि प्रदान करने की क्षमता *(ब)* वास्तविक सन्तुष्टि या सन्तोषजनकता। किसी वस्तु से अनुमानित या अप्रत्याशित सन्तुष्टि उसका उपभोग कर लेने के बाद मिलने वाली वास्तविक सन्तुष्टि से कम या अधिक या बराबर हो सकती है। अनुमानित सन्तुष्टि किसी वस्तु के लिये व्यक्ति विशेष की इच्छा की तीव्रता या इच्छा करने पर निर्भर करती है। आधुनिक अर्थशास्त्री 'उपयोगिता' (तृष्टिगत) का अर्थ अनुमानित सन्तुष्टि से लगाते हैं। इसीलिये फ्रेजर ने लिखा है, "उपयोगिता केवल इच्छा करना है।"

सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility)

यदि अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु हम एक से अधिक वस्तु की इकाइयों का प्रयोग करते हैं तो अन्तिम इकाई को 'सीमान्त इकाई' तथा उससे प्राप्त उपयोगिता को हम सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। मान लीजिये यदि कुल 9 इकाइयों का उपभोग हुआ है तो आखिरी अथवा नवीं इकाई की उपयोगिता ही सीमान्त उपयोगिता कहलायेगी। इसी प्रकार 10 इकाइयों के उपभोग में दसवीं इकाई की उपयोगिता ही सीमान्त उपयोगिता है। स्पष्ट है कि इसका योग कुल उपयोगिता को प्रदर्शित करता है। यह स्थिर नहीं होती है उपभोग इकाइयों में परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है।

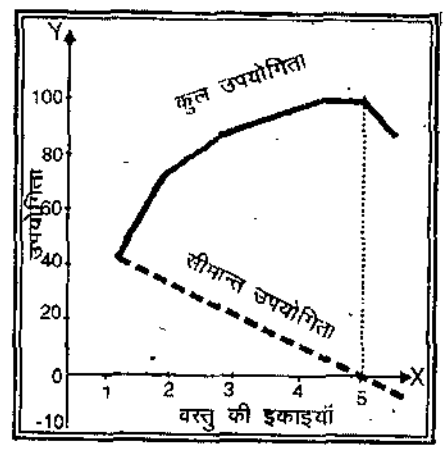

Fig. 1. सीमान्त उपयोगिता

बोल्डिंग के अनुसार – "वस्तु की किसी मात्रा की सीमान्त उपयोगिता कुल उपयोगिता में वृद्धि है जो कि उपभोग में एक और इकाई वृद्धि के परिणामस्वरूप होती है।"

सीमान्त तथा कुल उपयोगिता

कुल उपयोगिता का तात्पर्य उपभोग प्रक्रिया में समस्त इकाइयों से प्राप्त उपयोगिताओं के योग से है। यदि A, B, C, D चार वस्तुओं का उपभोग किया जाये और इनसे मिलने वाली उपयोगितांए क्रमशः 25, 20, 15, 10 हो तो कुल उपयोगिता (25 + 20 + 15 + 10 = 70) होगी। यह विभिन्न इकाइयों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं का योग होती है। मेयर्स के अनुसार "किसी वस्तु की उत्तरोत्तर इकाइयों के उपभोग से सम्बन्धित सीमान्त उपयोगिताओं का योग ही कुल उपयोगिता होती है।"

उपयोगिता ह्रास नियम (Law of Diminishing Utility)

NOTES

इसे सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम भी कहते हैं। अर्थशास्त्र के नियमों में सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का बड़ा ही प्रतिष्ठित स्थान है। इसे गोसेन का प्रथम नियम भी कहते हैं। यह नियम मानवीय जीवन के सामान्य अनुभव पर आधारित है। यह नियम अधिक इकाइयों के उपभोग के बाद की इकाइयों से कम सन्तुष्टि प्राप्त होने की मौलिक प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। मनोविज्ञान का यह नियम है कि किसी वस्तु के अत्यधिक सामीप्य और उसकी अत्यधिक मात्रा में प्राप्ति से उस वस्तु के प्रति महत्व बुद्धि समाप्त हो जाती है।

मनोवैज्ञानिक वैबर फैकनर ने इसे प्रकाश के उदाहरण से स्पष्ट किया है। उनके अनुसार आकस्मिक प्रकाश किरणों से आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। परन्तु प्रकाश की किरणों से जब आँखें अभ्यस्त हो जाती हैं तब उसका आँखों पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है। वस्तुओं के अभाव में उसका महत्व तथा अधिक वस्तुओं की प्राप्ति के साथ उनके महत्व में कमी हो जाती है। इसी प्रवृत्ति को अर्थशास्त्र में सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम कहकर सम्बोधित किया जाता है। इस नियम के अनुसार जैसे-जैसे कोई उपभोक्ता किसी वस्तु से अतिरेक इकाइयों का उपभोग करता है उसे इन अतिरेक इकाइयों से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में क्रमिक रूप से कमी का अनुभव होता है। उदाहरण के लिए एक भूखा व्यक्ति रोटियों का उपभोग करता है। यदि वह किसी समय छः रोटियाँ खाता है तो उसे प्रथम रोटी में सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होगी क्योंकि उस समय उसकी भूख तीव्रतम होती है, दूसरी रोटी की इकाई से पहली रोटी से अपेक्षाकृत कम उपयोगिता प्राप्त होगी। इसके साथ ही बाद की रोटियों से और कम उपयोगिता प्राप्त होगी क्योंकि उसकी भूख अनवरत रूप से कम होती जा रही है। उदाहरण के लिए उसे रोटियों की विभिन्न इकाइयों से निम्न उपयोगिता प्राप्त होती है –

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम

रोटी की इकाइयाँ	*सीमान्त उपयोगिता*	*कुल उपयोगिता*
1	40	40
2	30	70
3	20	90
4	10	100
5	0	100
6	–10	90

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का रेखा-चित्र निरूपण

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का रेखा-चित्र द्वारा निरूपण दो प्रकार से किया जाता है। जो वस्तुयें अविभाज्य (Indivisible) होती हैं उनकी सीमान्त उपयोगिता में ह्रास का चित्र निरूपण, वक्रों (Curves) के द्वारा किया जाता है। विभाज्य (Divisible) वस्तुओं का चित्र निरूपण समकोण चतुर्भुजों के द्वारा किया जाता है। यहाँ पर हम दोनों ही प्रकार की वस्तुओं का चित्र निरूपण दे रहे हैं। (Fig. 1) के द्वारा उपर्युक्त तालिका में दी गई रोटियों की सीमान्त उपयोगिता का ह्रास का क्रम दिखाया गया है और (Fig. 2) में उपर्युक्त तालिका को किसी अविभाज्य वस्तु से सम्बन्धित मानकर बनाया गया है।

(Fig. 2) में रोटियों के सीमान्त उपयोगिता ह्रास क्रम तथा (Fig. 2) में कुर्सियों के सीमान्त उपयोगिता का ह्रास क्रम दिखलाया गया है। कभी-कभी उपभोग की प्रथम अवस्था में सीमान्त उपयोगिता में कमी न होकर वृद्धि हो जाती है, क्योंकि पूर्व अभाव के कारण प्रथम उपभोग में अधिक तुष्टि प्राप्त हो सकती है।

(Fig. 2) में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। उदाहरण के लिए यदि प्रथम इकाई के उपरान्त दूसरी इकाई की उपयोगिता 40 से बढ़ाकर 50 हो जाती है और फिर तीसरी इकाई में आकर सीमान्त उपयोगिता घटकर 20

NOTES

हो जाती है तो वक्र का रूप A, B, C, D, E, F न होकर A, B_1, C, D, E हो जायेगा।

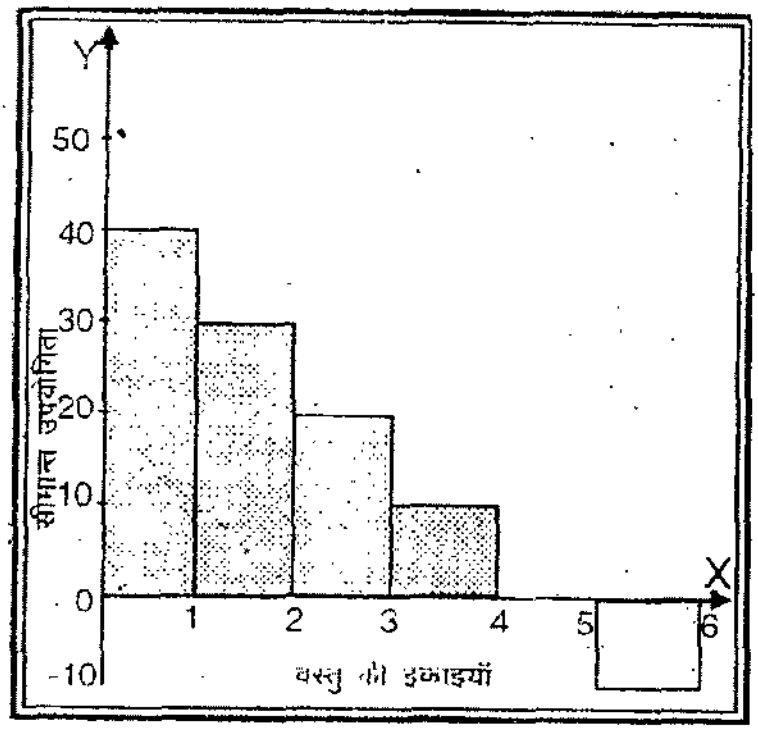

Fig. 2. विभाज्य वस्तुओं में सी. उ. ह्रास नियम

नियम की मान्यतायें सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की निम्न क्रियाशील आवश्यक मान्यतायें हैं –

1. **इकाइयों की एकरूपता** – नियम की क्रियाशीलता के लिए यह आवश्यक है कि उपभोग की जाने वाली वस्तु की सभी इकाइयाँ समान रूप और गुण वाली हों। यदि इकाइयों के रूप और गुण में परिवर्तन होता रहेगा तो नियम की क्रियाशीलता स्थिर हो जायेगी।
2. **समयान्तर की अनुपस्थिति** – नियम की मान्यता यह भी है कि विभिन्न इकाइयों के उपभोग के समय में अनावश्यक अन्तर नहीं होना चाहिए। आवश्यकताओं की पुनरावृत्ति के कारण नियम की अनिवार्य शर्त यह है कि समयान्तर नहीं होना चाहिए।
3. **मानसिक स्थिति की समानता** – सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता के लिए यह आवश्यक शर्त है कि उपभोक्ता की मानसिक अवस्था समान बनी रहे और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न हो।
4. **वस्तु के मूल्य की स्थिरता** – नियम की एक मान्यता यह भी है कि उपभोग की जाने वाली वस्तु के मूल्य में परिवर्तन न हो। यदि वस्तु के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तो उपभोक्ता की उपयोगिता कम होने लगेगी और उपभोक्ता उस वस्तु का उपभोग कम कर देगा। यदि मूल्य में कमी हो जाती है तो उपभोक्ता उस वस्तु की अधिक इकाइयों का उपभोग करने लगता है।
5. **स्थानापन्नों की मूल्य स्थिरता** – स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य परिवर्तन से उपभोग की जाने वाली वस्तु की उपयोगिता भी प्रभावित होती है और नियम की क्रियाशीलता में बाधा पड़ती है। आय की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ ही वस्तुओं के उपभोग पर भी अन्तर पड़ जाता है। अधिक आय से वस्तु की उपयोगिता बढ़ जाती है।
6. **आय की स्थिरता** – सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता के लिए उपभोक्ता की आय

की मात्रा भी अपरिवर्तित रहनी चाहिए। आय की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ ही वस्तुओं के उपभोग पर भी अन्तर पड़ जाता है। अधिक आय से वस्तु की उपयोगिता बढ़ जाती है।

NOTES

7. **फैशन व आदत में स्थिरता** – इस नियम की क्रियाशीलता के लिए यह आवश्यक शर्त है कि उपभोक्ता के लिए फैशन, आदत आदि में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। फैशन में परिवर्तन से प्राप्त होने वाली उपयोगिता में परिवर्तन हो जाता है और नियम की क्रियाशीलता में बाधा पड़ने लगती है।
8. **सुखमय आर्थिक दशा** – सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता सुखमय अर्थव्यवस्था में ही सम्भव है। दुखमय दशा में आवश्यकता इतनी तीव्र होती है कि अतिरेक वस्तुओं के उपभोग से उपयोगिता में कमी के स्थान पर वृद्धि होती है।
9. **वस्तुओं की इकाइयों का उचित आकार** – सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की क्रियाशीलता के लिए यह आवश्यक है कि उपभोग की जाने वाली वस्तु की इकाइयाँ उचित आकार की हो। यदि उपभोग की इकाई बहुत ही छोटी होगी तो नियम की क्रियाशीलता सीमित हो जायेगी।

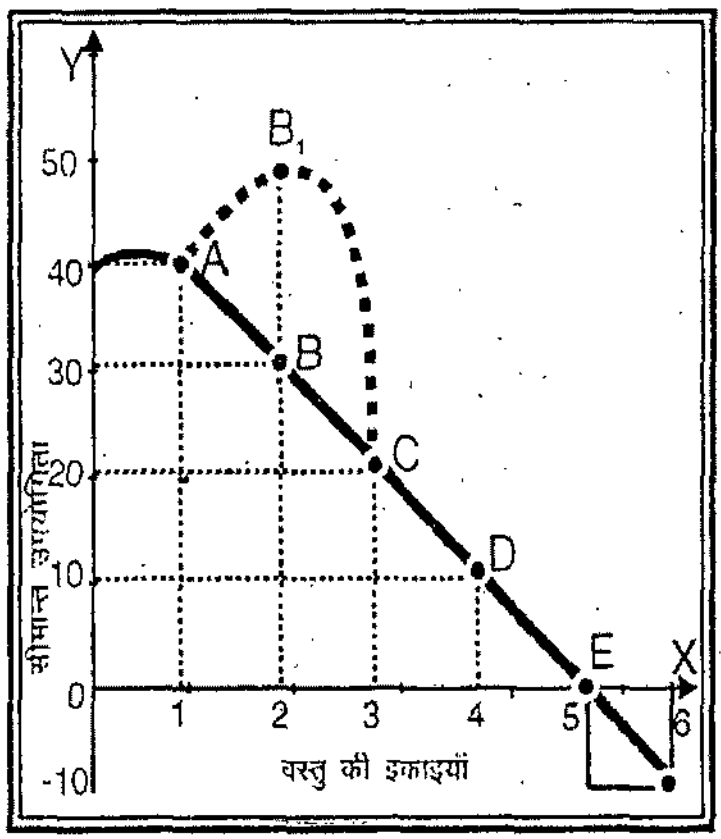

Fig. 3. अविभाज्य वस्तुओं में सी. उ. ह्रास नियम

सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम का महत्व

सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक महत्व निम्नलिखित है –

1. **माँग के नियम का आधार** – सीमांत उपयोगिता ह्रास नियम 'माँग के नियम' की व्याख्या करता है। जब उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदता है, तब उसके लिए वस्तु की सीमान्त उपयोगिता घट जाती है। वह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने के लिए तभी तैयार हो सकता है जब वस्तु की कीमत गिर जाए।

NOTES

2. **कराधान का आधार** – उपयोगिता ह्रास नियम कराधान के सिद्धान्त एवं व्यवहार के लिये आधार प्रदान करता है। निर्धन व्यक्ति की अपेक्षा धनी व्यक्ति के लिये द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है। इसी तथ्य को आधार मानकर सरकार प्रगतिशील दर से कर लागू करती है।

3. **समाजवादी सिद्धान्त का आधार** – समाजवादी लेखक उपयोगिता ह्रास नियम के आधार पर ही धन के पुनर्वितरण का समर्थन करते हैं। धन के पुनर्वितरण की योजना में धनिकों को जो त्याग करना पड़ेगा, उसकी तुलना में निर्धनों को मिलने वाला लाभ कहीं अधिक होगा।

4. **उपभोक्ता की बचत के विचार का आधार** – उपभोक्ता की बचत का विचार भी उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। पूर्णतृप्ति की सीमा से पहले उपभोक्ता को वस्तु की विभिन्न इकाइयों से जो उपयोगिता प्राप्त होती है, वह बदले में चुकाई गई कीमत से अधिक होती है। यह अन्तर ही 'उपभोक्ता की बचत' कहलाती है।

5. **'हीरा और पानी के विराधाभास' की व्याख्या** – उपयोगिता ह्रास नियम बताता है कि मानव-जीवन के लिये अत्यावश्यक होते हुए भी पानी का मूल्य हीरे से कम क्यों होता है ? हीरों का बाजार मूल्य इसलिए ऊँचा होता है, क्योंकि दुर्लभता के कारण इनकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होती है। पानी की प्रचुर उपलब्धता के कारण इसकी सीमान्त उपयोगिता और कीमत बहुत कम होती है।

6. **उपभोक्ता और व्यवसायी के लिये नियम का महत्व** – सीमान्त उपयोगिता का विचार असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सीमित साधनों का वितरण करने में सहायक होता है। यह निश्चित करता है कि कौन सी आवश्यकतायें पूरी की जानी है और किस सीमा तक पूरी की जानी है। प्रतिस्थापन के नियम के आधार पर उपभोक्ता और उत्पादक सीमित व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि या अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने में सफल होता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (Law of Equity-Marginal Utility)

प्रत्येक उपभोक्ता के सामने सबसे प्रमुख समस्या अपने सीमित साधनों को विभिन्न प्रयोगों या विभिन्न वस्तुओं के क्रय के सम्बंध में इस प्रकार से बँटवारे की होती है जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति प्राप्त हो सके। यह अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति ही उपभोक्ता की संस्थिति की स्थिति होगी। यह किस प्रकार से व्यवहार करता है अथवा अपने सीमित साधनों को विभिन्न उपयोगों में लगाता है जिससे संस्थिति की स्थिति प्राप्त हो जाय, मार्शल ने उपयोगिता के संख्यात्मक माप पर आधारित सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का प्रतिपादन किया। उपभोग के इस महत्वपूर्ण सिद्धांत की सर्वप्रथम व्याख्या गॉसेन ने किया, इसलिए इसे गॉसेन का दूसरा नियम कहते हैं। (हम देख चुके हैं कि क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम को गॉसेन का प्रथम नियम कहते हैं) पर चूंकि इस सिद्धान्त का अधिक परिष्कृत तथा वैज्ञानिक विश्लेषण मार्शल से ही प्राप्त हुआ, इसलिए इसके प्रतिपादक के रूप में हम मार्शल को ही स्वीकार करते हैं। अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति को प्राप्त करने में उपभोक्ता कम उपयोगिता देने वाले उपयोग के स्थान पर अधिक उपयोगिता देने वाले उपयोग को तब तक प्रतिस्थापित करता है जब तक उसे संस्थिति की स्थिति नहीं प्राप्त हो जाती, इसलिए इस सिद्धान्त को उपभोग में प्रयुक्त प्रतिस्थापन का सिद्धान्त भी कहते हैं।

बोल्डिंग के शब्दों में, "उपभोक्ता को विभिन्न वस्तुओं के उस संयोग से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी, जिस संयोग पर सभी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिताओं तथा उनकी कीमतों के अनुपात में समानता हो।" यदि किसी वस्तु की कीमत बढ़ जाती है, तब आनुपातिकता बनाये रखने के लिये ऐसी वस्तु की कम तथा दूसरी वस्तुओं की अधिक मात्रायें खरीदी जायेंगी। किसी वस्तु की कीमत में आई गिरावट उसकी अधिक माँग को प्रेरित करेगी, जबकि अन्य वस्तु की कीमत में हुई वृद्धि उसकी माँग में कमी को जन्म देगी। उपभोक्ता को संस्थिति ज्ञात करने के लिए मार्शल ने उपयोगिता के संख्यात्मक माप पर आधारित सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को प्रतिपादन किया। मार्शल के अनुसार 'यदि किसी व्यक्ति के पास कोई एक ऐसी वस्तु हो जो विभिन्न प्रयोगों में लायी जा

NOTES

सके तो वह उस वस्तु को विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार बाँटेगा कि उसकी सीमान्त उपयोगिता सभी प्रयोगों में समान रहे क्योंकि यदि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एक प्रयोग में दूसरे की अपेक्षा अधिक है तो वह दूसरे प्रयोग से वस्तु की मात्रा हटाकर तथा उसका प्रयोग पहले में करके लाभान्वित हो सकता है। जे. के. मेहता नियम को प्रतिपादित करते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि यदि एक दी हुई समयावधि में एक वस्तु अनेक आवश्यकताओं को पूरा कर सके तो इसकी एक दी हुई मात्रा से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए इसकी मात्रा को विभिन्न आवश्यकताओं के बीच इस प्रकार बांटना चाहिए कि उस निश्चित समयावधि में इसकी सीमान्त उपयोगिता लगभग समान हो जाय।

उदाहरण:

एक व्यक्ति के पास कुल 12 मौद्रिक इकाइयाँ हैं और वह इन इकाइयों को तीन वस्तुओं आम, संतरा और केला के उपभोग पर व्यय करना चाहता है। इन वस्तुओं की सीमान्त उपयोगितायें निम्नलिखित तालिका में दी गई हैं और इस उपयोगिता सारणी के आधार पर उसका व्यय क्रम इस प्रकार होगा।

उपयोगिता सारणी

वस्तु की इकाइयाँ	*आमों की उपयोगिता*	*सन्तरों की उपयोगिता*	*केलों की उपयोगिता*
1	22 (1)	19 (3)	21 (2)
2	18 (4)	15 (6)	17 (5)
3	14 (7)	13 (8)	12 (19)
4	10 (10)	10 (11)	10 (12)
5	8	9	6
6	6	7	3

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपभोक्ता सर्वाधिक उपयोगिता (22) वाली वस्तु (आम) पर पहली इकाई व्यय करता है और उसके पश्चात् उससे कम अधिक उपयोगिता वाली इकाई (केला) पर व्यय करता है न कि आम पर क्योंकि सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम लागू होने के कारण उसकी सन्तुष्टि कम होगी। इसलिए वह आम को केला से प्रतिस्थापित कर देता है। जिससे अधिकतम सन्तुष्टि का लक्ष्य प्राप्त हो सके। इसी प्रकार वह उसकी सभी मौद्रिक इकाइयों का उपभोग करता है और अन्ततः और संयोग से तीनों वस्तुओं की बाद की इकाइयों की उपयोगिता भी समान हो जाती है। इस व्यय क्रम को हम निम्नलिखित तालिका से भी स्पष्ट कर सकते हैं :–

व्यय क्रम तालिका

मुद्रा की इकाइयाँ	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
वस्तु	आम	केला	संतरा	आम	केला	संतरा	आम	संतरा	केला	आम	संतरा	केला
सी0 उ0	22	21	19	18	17	15	14	13	12	10	10	10

मौद्रिक इकाइयों से प्राप्त कुल उपयोगिता = 189

अनेक वस्तुओं पर किये गये व्यय से प्राप्त उपयोगिता को हम वस्तुओं के क्रम से भी व्यक्त कर सकते हैं। वस्तु व्यय क्रम से प्राप्त उपयोगिताओं को निम्नलिखित तालिका में दिखाया गया है।

NOTES

वस्तु व्यय क्रम से प्राप्त उपयोगिताएं

वस्तु	उपयोगिताओं का योग	कुल उपयोगिता
आम की उपयोगिता	= 22. 18. 14. 10	= 64
संतरा की उपयोगिता	= 19. 15. 13. 10	= 57
केला की उपयोगिता	= 21. 17. 12. 10	= 60
कुल उपयोगिता	= 64. 57. 60	= 181

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता के पास जो मुद्रा की 12 इकाइयाँ थीं इसे नियम के अनुसार उपभोग करने पर कुल उपयोगिता 181 प्राप्त हुई है। अन्य किसी भी व्यय क्रम से उसे 181 इकाइयों से अधिक उपयोगिता प्राप्त न हो सकेगी। यह एक गणितीय सत्य है।

नियम का चित्र निरूपण

सम-सीमान्त उपयोगिता को हम चित्रों के माध्यम से भी स्पष्ट कर सकते हैं। उपर्युक्त तालिका के आधार पर हम निम्नलिखित चित्रों द्वारा इस नियम को प्रदर्शित कर सकते हैं :

(Fig. 4) में आम, संतरा तथा केला की सीमान्त उपयोगिताओं को प्रदर्शित किया गया है। चित्र में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि आम, संतरा, केला सभी के उपभोग की चौथी इकाई में सीमान्त उपयोगिता 10 है और यही सम-सीमान्त उपयोगिता की स्थिति है और यही उपभोक्ता के लिये अधिकतम सन्तुष्टि की स्थिति भी है।

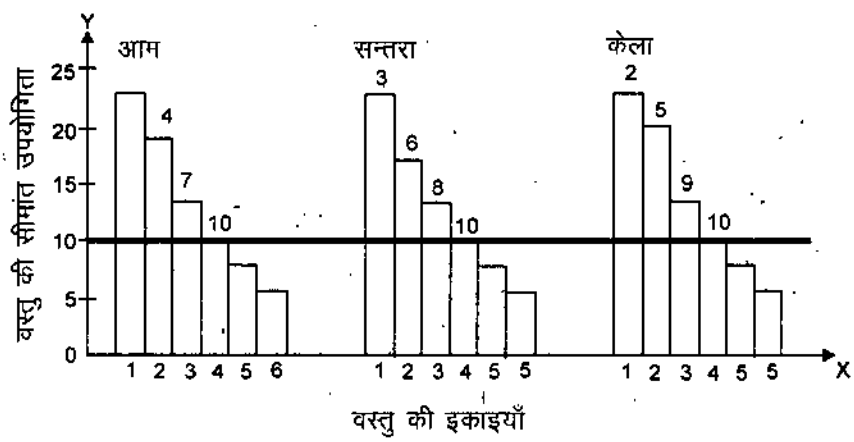

Fig. 4. सम-सीमान्त उपयोगिता *नियम*

(Fig. 4) द्वारा प्रदर्शित उपयोगिता को हम वक्रों द्वारा भी चित्रित कर सकते हैं। (Fig. 5) में आम, केला, संतरा वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता वक्र दिखलायें गये हैं। यह सभी वक्र A बिन्दु पर मिलते हैं। इस कारण यही समसीमान्त उपयोगिता बिन्दु है और उपभोक्ता के लिए अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना इसी बिन्दु पर सम्भव है।

सम-सीमान्त उपयोगिताओं वाले बिन्दु पर ही उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि मिलने के विचार को भी चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिये उपभोक्ता ने आम और संतरा की अपनी मौद्रिक इकाइयाँ इस प्रकार व्यय की कि उसे सम-सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो गई। इसके उपरान्त यदि उपभोक्ता अपने व्यय क्रम को बदलता है तो उसकी कुल उपयोगिता कम हो जाती है। यह सत्य (Fig. 5) से सिद्ध होता है। (Fig. 6) में आम की उपयोगिता का वक्र CD और संतरों का वक्र AB है। आम और संतरों की उपयोगिता F और E बिन्दु पर बराबर है और यहीं पर कुल उपयोगिता अधिकतम होगी परन्तु यदि उपभोक्ता उपभोग में परिवर्तन कर दे और आम का उपभोग बढ़ा दे और संतरा का उपभोग घटा दे तो कुल उपयोगिता कम हो जायेगी।

NOTES

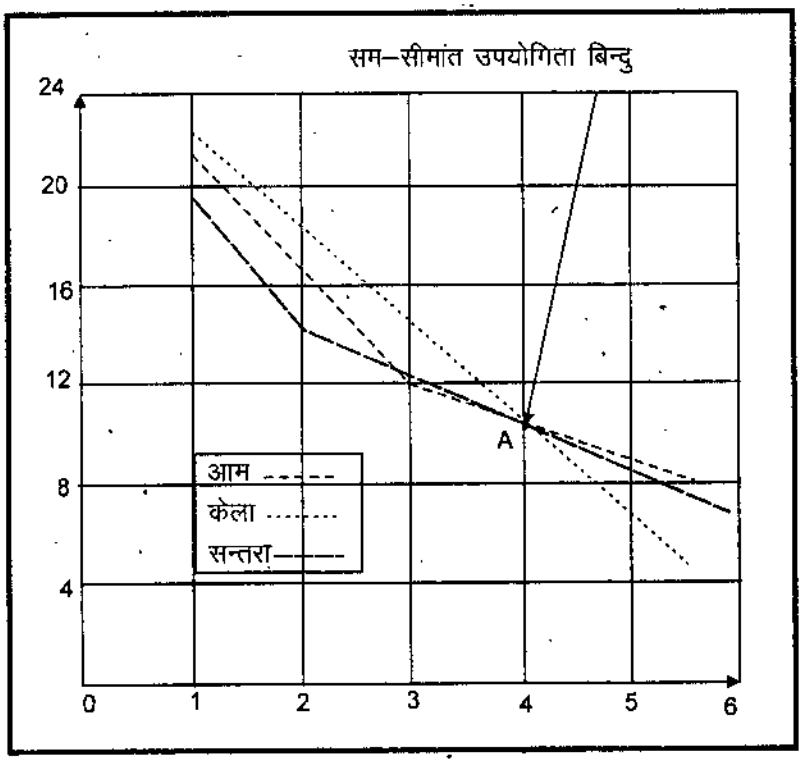

Fig. 5. सम–सीमान्त उपयोगिता बिन्दु

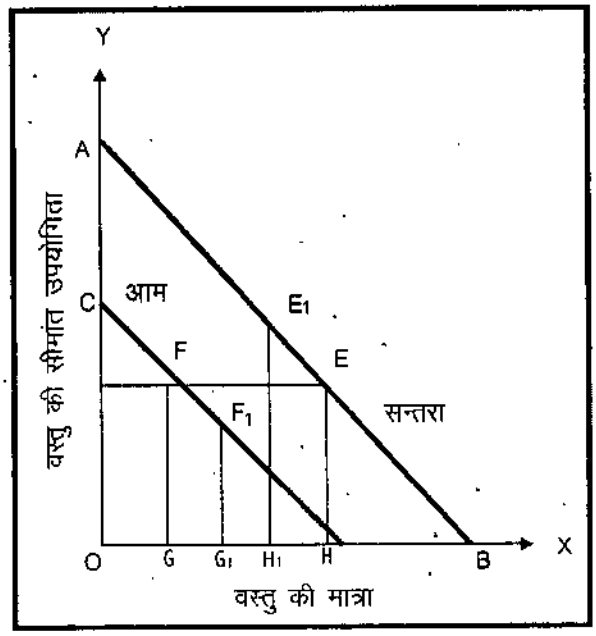

Fig. 6. सम-सीमान्त उपयोगिता बिन्दु पर अधिकतम संतुष्टि

(Fig. 6) में आम का उपभोग OG से बढ़ाकर OG_1 कर देता है तो उसे संतरों का उपभोग OH से घटाकर OH_1 करना पड़ेगा। इसके परिणामस्वरूप कुल उपयोगिता में FF_1G_1G चतुर्भुज क्षेत्र के बराबर वृद्धि

NOTES

हो जायेगी और EE_1H_1H चतुर्भुज क्षेत्र के बराबर कमी हो जायेगी। चूँकी F_1FG_1G चतुर्भुज का क्षेत्रफल कम है अपेक्षाकृत चतुर्भुज EE_1H_1H से। अतः कुल उपयोगिता में कमी हो जायेगी। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि सम-सीमान्त उपयोगिता स्तर पर ही सर्वाधिक उपयोगिता प्राप्त होगी।

नियम की मान्यताएं :

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की क्रियाशीलता निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है –

1. यह नियम सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। अतः सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम की सभी मान्यतायें सम-सीमान्त उपयोगिता नियम पर लागू होती हैं। ये मान्यतायें इस प्रकार हैं – *(क)* उपभोक्ता की समस्त इकाइयाँ गुण एवं मात्रा में समान होनी चाहिये। *(ख)* वस्तुओं की इकाइयाँ पर्याप्त होनी चाहिये। *(ग)* उपभोग की क्रिया लगातार होनी चाहिये। *(घ)* उपभोक्ता की मानसिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये। *(ङ)* विचारणीय वस्तु तथा स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य अपरिवर्तित रहने चाहिएं। *(च)* उपभोक्ता की आय, रूचि और फैशन अपरिवर्तित रहते हैं।
2. **मनुष्य का व्यवहार विवेकपूर्ण होता है** – सिद्धांत में यह मान लिया जाता है कि व्यक्ति विवेकपूर्ण प्राणी है। वह सीमित आय का विनियोजन इस प्रकार करता है कि उसे अधिकतम सन्तुष्टि मिले।
3. **मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है** – नियम यह मानकर चलता है कि खरीदारी के दौरान मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है।
4. **उपयोगिता मापनीय है** – नियम यह मानकर चलता है कि उपयोगिता मापनीय है, जो मुद्रारूपी मापदण्ड से मापी जा सकती है। अतः उपयोगिताओं को जोड़ा या घटाया जा सकता है तथा उनकी परस्पर तुलना की जा सकती है।
5. **वस्तुओं की विभाजकता** – नियम की अन्तिम मान्यता यह है कि खरीदी जाने वाली वस्तुओं को टुकड़ों में बाँटा जा सकता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम का महत्व

उपभोग क्षेत्र में महत्व– उपभोग के क्षेत्र में इस नियम का बड़ा महत्व है–*(क)* इस नियम के आधार पर ही उपभोक्ता अपनी सीमित आय को उपभोग की विभिन्न मदों पर व्यय कर अपनी आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है। *(ख)* यदि किसी वस्तु का विभिन्न ढंगों से प्रयोग किया जा सकता है तो उपभोक्ता प्रतिस्थापन-प्रणाली के माध्यम से प्रयोगों का एक ऐसा क्रम निर्धारित करेगा जिससे सभी इकाइयों से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। *(ग)* आय का कितना अंश व्यय किया जाये और कितना अंश उपयोग किया जाये, यह भी सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है।

उत्पादन क्षेत्र में महत्व– उत्पादन क्षेत्र में भी इस नियम का बड़ा महत्व है – *(क)* साधनों के अधिकतम लाभकारी संयोग के लिए प्रतिस्थापन नियम का प्रयोग किया जाता है। आजकल उत्पादनकर्त्ताओं के समक्ष यह समस्या होती है कि किस अनुपात में साधनों का सहयोग प्राप्त करें जिससे उन्हें न्यूनतम लागत में अधिकतम उत्पादन प्राप्त हो। वे उन सीमान्त इकाइयों को जिनकी उत्पादनशीलता कम है अधिक उत्पादनशीलता वाली इकाइयों से प्रतिस्थापित करते रहते हैं। अंत में जब सभी साधनों की सीमान्त इकाइयों का उत्पादन बराबर हो जाता है तो उत्पादनकर्त्ता प्रतिस्थापन क्रम बन्द कर देते हैं। *(ख)* प्रतिस्थापन नियम के आधार पर वस्तुओं के विभिन्न प्रयोगों के सम्बंध में भी निर्णय किया जाता है। यदि किसी वस्तु का उत्पादन में अनेक प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है वह इन प्रयोगों को इस प्रकार व्यवहार में लाता है जिससे सभी प्रयोगों से समान उत्पादनशीलता प्राप्त हो।

विनिमय क्षेत्र में प्रयोग– विनिमय के क्षेत्र में भी प्रतिस्थापन नियम का बड़ा महत्व है। प्रतिस्थापन विनिमयकर्ता का सहायक होता है। प्रत्येक व्यक्ति कम उपयोगी वस्तु को देखकर अधिक उपयोगी वस्तु को प्राप्त

करने का प्रयास करता है और विनिमय क्रिया से लाभ उठाता है। जब देने वाली और प्राप्त होने वाली वस्तुओं की उपयोगिता समान हो जाती है तब वह विनिमय क्रिया को समाप्त कर देता है, क्योंकि समान उपयोगिता वाली वस्तुओं के आदान-प्रदान से उसे लाभ नहीं होता है। बाजार में मूल्य की एकता भी प्रतिस्थापन के कारण ही होती है। अधिक मूल्य पर बेचने वालों को कम मूल्य लेने वाले के द्वारा प्रतिस्थापन कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रतिस्थापन क्रिया द्वारा मूल्य की समानता स्थापित की जाती है।

वितरण क्षेत्र में महत्व– वितरण क्षेत्र में इस नियम की बड़ी उपयोगिता है। उत्पादन के सभी साधनों की सेवाओं के प्रतिफल के रूप में उचित पारिश्रमिक देना नितांत आवश्यक है। न्यायपूर्ण वितरण के लिय यह आवश्यक है कि सभी साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादनशीलता के आधार पर पारिश्रमिक दिया जाय। सीमान्त उपयोगिता नियम समान वितरण के पक्ष में प्रबल समर्थक तर्क प्रस्तुत करता है। निर्धन व्यक्तियों को अपनी आय से अधिक तथा धनी व्यक्तियों को अपनी आय से कम सीमान्त सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसी प्रकार समान वितरण से सभी वर्गों को आय से समान और अधिक उपयोगिता इस नियम के आधार पर सन्तुष्टि प्राप्त होगी।

राजस्व क्षेत्र में महत्व– सम-सीमान्त उपयोगिता या प्रतिस्थापन नियम सरकार की आय और व्यय नीति के निर्माण में पथ प्रदर्शन करता है। सरकार करारोपण इस प्रकार करती है जिससे कर द्वारा उत्पन्न सीमान्त अनुप्रयोगिता समान हो जाये। सीमान्त उपयोगिता की समानता की स्थिति पर ही करारोपण से न्यूनतम कष्ट की अनुभूति होती है। इसी प्रकार सरकार सार्वजनिक व्यय को इस प्रकार करती है जिससे व्यय की इकाइयों से समान सीमान्त उपयोगिता की प्राप्ति हो।

2.4 उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)

उपभोक्ता के बचत की अवधारणा उपभोक्ता व्यवहार के विश्लेषण से सम्बंधित है। मार्शल ने इसे उपभोक्ता की लगान तथा बाद में उपभोक्ता की बचत नाम से पुकारा है।

अर्थशास्त्रियों ने उपभोक्ता की बचत को इस प्रकार परिभाषित किया है :

1. मार्शल ने इस सिद्धान्त की परिभाषा में कहा है, "किसी वस्तु के उपभोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो कीमत देने के लिए तत्पर रहता है तथा वास्तव में, जो कीमत देता है, उसके अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहते हैं।"
2. टॉजिग के अनुसार, "समस्त तुष्टिगुण और समस्त विनिमय कीमत को मापने वाली राशियों का अन्तर ही उपभोक्ता की बचत है।"
3. जे. के. मेहता के शब्दों में, "किसी वस्तु से मनुष्य जो उपभोक्ता की बचत प्राप्त करता है, वह उस वस्तु से मिलने वाली सन्तुष्टि तथा उसे प्राप्त करनें के लिए त्यागी गई सन्तुष्टि का अन्तर है।"
4. पैन्सन के अनुसार, "हम जो कुछ देने को तैयार हो जायेंगे और जो हमें देना होता है, इन दोनों के अन्तर को उपभोक्ता की बचत कहा जाता है।"
5. नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री सैम्यूअलसन के अनुसार, "कुल बाजार मूल्य और कुल उपयोगिता में सदैव एक अन्तर होता है। यह अन्तर एक प्रकार का आधिक्य है जो उपभोक्ता को प्राप्त होता है क्योंकि इसकी कुल प्राप्ति इसके द्वारा किये गये कुल भुगतान से अधिक होती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता की बचत वह अतिरेक है जो किसी उपभोक्ता को इस कारण प्राप्त हुआ है कि वह वस्तु को प्राप्त करने के लिये अधिक त्याग करने को प्रस्तुत है परन्तु वास्तविकता में उसे कम त्याग करना पड़ता है। संक्षेप में, प्रस्तुत त्याग और वास्तविक त्याग के अन्तर को ही उपभोक्ता की बचत का मापदण्ड कहा जा सकता है।

उपभोक्ता की बचत की मान्यताएं

1. **उपयोगिता एवं सन्तुष्टि के बीच निश्चित सम्बन्ध होता है** – जब व्यक्तिगत उपभोक्ता किसी

NOTES

वस्तु को खरीदता है तो उस समय वस्तु से अधिक उपयोगिता प्राप्त होती प्रतीत होती है, लेकिन वास्तविक उपभोग करने पर उससे आशा से कम सन्तुष्टि उपलब्ध होती है। यद्यपि उपभोक्ता की बचत की धारणा की विवेचना करते समय मार्शल स्पष्टतः इस मान्यता की चर्चा नहीं करते, लेकिन फिर भी यह मान्यता उनके समूचे माँग-सिद्धांत का आधार है।

2. **मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर रहती है** – जब उपभोक्ता मुद्रा के बदले कोई वस्तु खरीदता है तो मुद्रा से प्राप्त होने वाली उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती नहीं हैं, बल्कि विनिमय प्रक्रिया के दौरान स्थिर रहती है। मार्शल ने इस मान्यता को उचित ठहराया था। उनका कहना था कि किसी विशेष समय पर किसी वस्तु पर व्यक्तिगत उपभोक्ता द्वारा किया गया व्यय साधारणतया इतना कम होता है कि वह उसके कुल व्यय का एक छोटा सा अंश होता है। अतः विनिमय प्रक्रिया के दौरान मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को सरलता से स्थिर माना जा सकता है।

3. **वस्तु की उपयोगिता उसकी मात्रा पर निर्भर है** – उपभोक्ता की बचत की धारणा की मान्यता यह है कि किसी वस्तु की उपयोगिता केवल उसकी मात्रा पर ही निर्भर होती है। उदाहरणार्थ– चाय की उपयोगिता केवल उसकी मात्रा से ही निर्धारित होती है, सम्बन्धित वस्तुओं की मात्राओं से नहीं।

4. **विचाराधीन वस्तु सम्बन्धित वस्तु से पूर्ण स्वतन्त्र है** – विचाराधीन वस्तु के किसी प्रकार के कोई स्थानापन्न नहीं हैं। यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न हैं तो उनका सामूहीकरण करके उन्हें एक ही वस्तु मान लेना चाहिए।

उदाहरण : –

मान लीजिए एक व्यक्ति बाजार से सेब खरीदता है, प्रत्येक सेब की कीमत दस पैसे है। निम्नांकित सारणी 1 से सेबों की इकाइयाँ, उनसे प्राप्त उपयोगिता तथा उपभोक्ता की बचत का ज्ञान होता है :

सारणी 1 – सेबों से प्राप्त तुष्टिगुण (उपयोगिता)

सेवों की इकाइयाँ	*उपयोगिता, यानी वह मूल्य जो उपभोक्ता देने को तैयार है (पैसों में)*	*बाजार का मूल्य (पैसों में)*	*उपभोक्ता की बचत (पैसों में)*
1	50	10	50 – 10 = 40
2	40	10	40 – 10 = 30
3	30	10	30 – 10 = 20
4	25	10	25 – 10 = 15
5	20	10	20 – 10 = 10
6	10	10	10 – 10 = 00
7	175	60	175 – 60 = 115

वह व्यक्ति जब पहला सेब खरीदता है तो उसे 50 पैसे के बराबर तुष्टिगुण प्राप्त होता है किन्तु उसके लिए वह 10 पैसे देता है, अतः उसे 40 पैसे पर अतिरिक्त तुष्टिगुण मिलता है। इसी प्रकार दूसरी इकाई से 30 पैसे पर अतिरिक्त तुष्टिगुण प्राप्त होता है और अन्य इकाइयों से भी उसी प्रकार अतिरिक्त तुष्टिगुण प्राप्त होता है। कुल अतिरिक्त तुष्टिगुण 115 पैसे हुआ, यही उपभोक्ता की बचत है।

रेखा-चित्र द्वारा स्पष्टीकरण – (Fig. 7) में आच्छादित भाग उपभोक्ता की बचत दर्शाता है। (Fig. 7) से स्पष्ट है कि उपभोक्ता को प्रथम पाँच सेबों से उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। पहले सेब से (50 – 10) = 40, उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है, दूसरे सेब से (40 – 10) = 30,

तीसरे सेब से (30 – 10) = 20, चौथे सेब से (25 – 10) = 15, और पाँचवे सेब से (20 – 10) = 10, उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। छठे सेब से उसे कुछ भी उपभोक्ता की बचत प्राप्त नहीं होती है।

NOTES

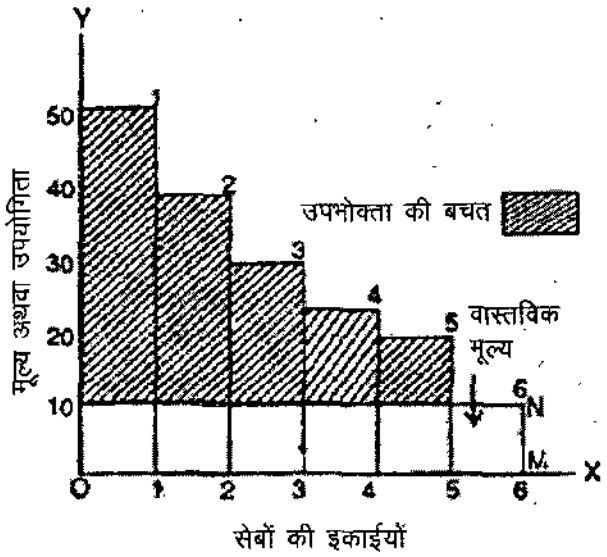

Fig. 7

(Fig. 7) में छड़ (अर्थात 10 पैसा) सेबों की कीमत है जो उपभोक्ता वास्तव में देता है। NM के उपर जो आयत बने हुए हैं, वे उपभोक्ता की बचत को प्रदर्शित करते हैं। जो वस्तुएँ अविभाज्य होती है जैसे – सेब, आम, नारंगी आदि उनसे प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत को समकोण चतुर्भुज द्वारा प्रस्तुत किया जाता है (*Fig. 7*), दूसरी ओर जो वस्तुएँ विभाज्य होती हैं,जैसे–दूध, घी, मक्खन व दही आदि उनसे प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचत को वक्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जैसा कि चित्र 8 से स्पष्ट है।

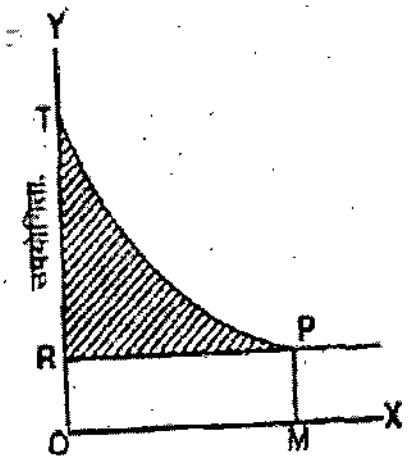

Fig. 8

(*Fig. 8*) में किसी विभाज्य वस्तु से प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता को OMPT द्वारा दिखाया गया है। इस वस्तु को प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को OMPR के बराबर उपयोगिता का त्याग करना पड़ता है। अतः उपभोक्ता की बचत इन दोनो के अन्तर RPT के बराबर हुई।

NOTES

उपभोक्ता की बचत का महत्व

1. **उपभोग मूल्य व विनिमय मूल्य का स्पष्टीकरण** – उपभोक्ता की बचत धारणा उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य के अन्तर को स्पष्ट करने में सहायक है। यह धारणा स्पष्ट करती है कि वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनके उपयोग मूल्य के समान नहीं होता है। दोनों मूल्यों के अन्तर का अनुमान इसी बचत धारणा के आधार पर लगाया जा सकता है।
2. **मूल्य निर्धारण सिद्धान्त और उपभोक्ता बचत** – उपभोक्ता की बचत सिद्धान्त का विभेदात्मक मूल्य नीति में विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। जिन वस्तुओं के उपभोग से उपभोक्ताओं को अधिक अतिरेक प्राप्त होता है उनका अधिक मूल्य लिया जाता है तथा इसके विपरीत कम बचत वाली वस्तुओं के मूल्य कम निर्धारित किए जाते हैं।
3. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में महत्व** – अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभ के मूल्यांकन में भी उपभोक्ता की बचत धारणा का महत्व है। मार्शल के अनुसार उपभोक्ता की बचत के माध्यम से एक राष्ट्र को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो लाभ होता है उसका अनुमान लगाया जा सकता है। विदेशों से हम उन्हीं वस्तुओं का आयात करते हैं जिनका मूल्य देश में प्रचलित मूल्य की अपेक्षा कम है। मूल्य के इस अन्तर के कारण देशी उपभोक्ताओं को विदेश से आयात की गई वस्तु के लिए कम मूल्य देना पड़ता है और उपभोक्ताओं को अतिरेक बचत प्राप्त हो जाती है। यही अतिरेक बचत की कुल राशि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा निर्धारित करती है।
4. **सार्वजनिक वित्त में महत्व** – करारोपण एवं अनुदान की नीति के निर्धारण के समय सरकार उपभोक्ता बचत धारणा की उपेक्षा नहीं करती है। करारोपण उन्हीं वस्तुओं पर किया जाता है, जिन पर उपभोक्ता की बचत मात्रा अधिक है। इससे जनता को न्यूनतम कष्ट का अनुभव होता है। कम बचत वाली वस्तुओं पर कर लगाने की मात्रा अत्यधिक सीमित है। उन पर करारोपण के कारण मूल्य वृद्धि से वस्तुओं का उपभोग कम करना पड़ेगा और लोगों को अधिक कष्ट का अनुभव होगा। अनुदान के समय सरकार ध्यान रखती है कि उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अधिक सहायता करे जिस पर लोगों को अधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो सके।

2.5 माँग का नियम (Law of Demand)

किसी दिये गये समय में, दिये हुए मूल्य पर कोई उपभोक्ता, बाजार में किसी वस्तु की जो विभिन्न मात्रायें क्रय करता है उसे उस वस्तु की माँग कहते हैं। माँग के साथ मूल्य का उल्लेख आवश्यक है, बिना मूल्य के उल्लेख के माँग का कोई अर्थ नहीं होता है, इसका कारण स्पष्ट है भिन्न-भिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्रायें माँगी जायेगी तथा मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव माँग पर पड़ता है। इतना ही नहीं किसी दिये गये समय में मूल्य ही वह तत्व है जो माँग को उस वस्तु की इच्छा तथा उस वस्तु की आवश्यकता से अलग कर देता है। बहुत से ऐसे अर्थशास्त्री हैं जो प्रभावोत्पादक इच्छा को ही माँग कहते है पर वस्तुस्थिति यह है कि प्रभावोत्पादक इच्छा तो आवश्यकता है पर जब इसी आवश्यकता अथवा प्रभावोत्पादक इच्छा का अध्ययन किसी निश्चित समय में तथा निश्चित मूल्य पर किया जाता है तो यह माँग बन जाती है। बेन्हम (Benham) ने माँग की परिभाषा इस प्रकार दी "किसी दिये हुए मूल्य पर किसी वस्तु की माँग उस वस्तु की वह मात्रा है जो उस मूल्य पर एक निश्चित समय में खरीदी जायेगी।"

माँग की परिभाषा से स्पष्ट है कि माँग एवं मूल्य में बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। माँग व मूल्य के इस परस्पर सम्बन्ध को माँग के नियम द्वारा व्यक्त किया जाता है। माँग का नियम यह बताता है कि ऊँची कीमतों पर माँग कम तथा कम कीमत पर माँग अधिक होती है। इस प्रकार मूल्य एवं माँग में विपरीत सम्बन्ध होता है। अन्य शब्दों में, यह नियम बताता है–यदि अन्य बातें समान रहें तो अधिक मूल्य पर किसी वस्तु-विशेष की कम मात्रा खरीदी जायेगी और कम मूल्य पर उसकी अधिक मात्रा खरीदी जायेगी।

अर्थशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण पहलू माँग-विश्लेषण है। इसके द्वारा फर्म उन शक्तियों को खोजने तथा मापने का प्रयास करता है जो कि विक्रय को प्रभावित करती है। दूसरे शब्दों में, औद्योगिक वस्तुओं के लिए माँग का अन्दाज एवं पूर्वाभास माँग विश्लेषण की परिधि में आते हैं।

NOTES

माँग और कीमत में सामान्यतः प्रतिकूल सम्बन्ध दिखायी पड़ते हैं। कीमत में कमी होने से वस्तुओं और सेवाओं की अधिक मात्रा में माँगे जाने की सामान्य प्रवृत्ति पायी जाती है। इसके विपरीत कीमतों में वृद्धि से उनकी माँग में कमी हो जाती है। कीमत और माँग सम्बन्धों की यह प्रवृत्ति इतनी सामान्य है कि इसे माँग के नियम की संज्ञा दी जाती है।

माँग और मूल्य के बीच गहरा सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध को 'माँग का नियम' कहते हैं। लेकिन मूल्य एवं माँग के मध्य का यह सम्बन्ध विपरीत होता है। मूल्य में कमी माँग को बढ़ाती है तथा मूल्य बढ़ने पर माँग घटती है। अतएव मूल्य की विपरीत दिशा में माँग परिवर्तन होता है। अन्य बातें यथावत होने पर ज्यों-ज्यों किसी वस्तु की कीमत बढ़ती है, माँग घटती जाती है और ज्यों-ज्यों कीमत घटती है, वस्तु की माँग बढ़ती है। मार्शल के शब्दों में, "अधिक क्रेता पाने के लिए नीची कीमत पर विक्रय की अधिक मात्रा प्रस्तुत की जाती है, या दूसरे शब्दों में माँग की मात्रा मूल्य में कमी के साथ बढ़ती है और मूल्य में वृद्धि के साथ घटती है।" किन्तु माँग का नियम गुणात्मक है, परिमाणात्मक नहीं अर्थात् मूल्य में परिवर्तन होने पर माँग का कम या अधिक होना यह नियम बतलाता है किन्तु कितना अधिक या कितना कम इस बात को नहीं बतलाता है। इसे नीचे दी गई तालिकाओं द्वारा भी समझाया जा सकता है।

तालिका – मूल्य में वृद्धि

कीमत प्रति इकाई (रु.)	*नारंगी की माँग*
5	10
4	8
3	6
2	4
1	2

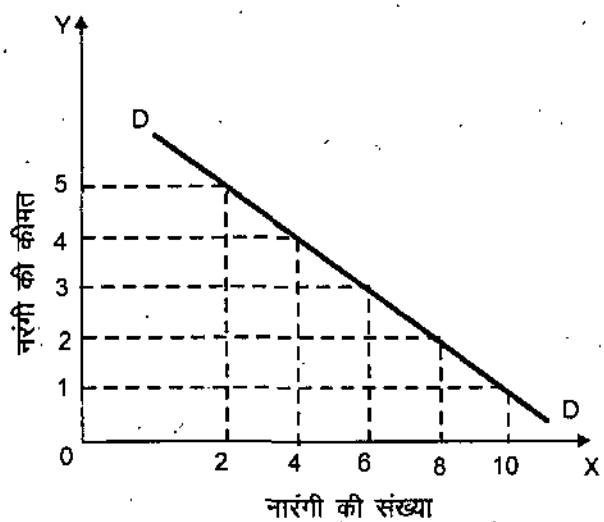

Fig. 9

NOTES

रेखाचित्र के द्वारा भी माँग के नियम को अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसे हम चित्र–9 के द्वारा समझ सकते हैं –

इसे चित्र में OX रेखा पर नारंगी की संख्या तथा OY रेखा पर नारंगी की कीमत दिखलायी गई है। DD माँग-वक्र है। चित्र से स्पष्ट होता है कि जैसे-जैसे वस्तु की कीमत घटती जाती है, उसकी माँग बढ़ती जाती है।

माँग के नियम की मान्यतायें

1. उपभोक्ता की रुचि, आदत और प्रचलित फैशन में कोई परिवर्तन नहीं होता है।
2. स्थानापन्न वस्तुओं में कोई परिवर्तन नहीं होता है।
3. वस्तु की कोई स्थानापन्न वस्तु बाजार में नही आती।
4. भविष्य में वस्तु के दुर्लभ होने की सम्भावना नही रहती।
5. वस्तु, जिसकी माँग का अध्ययन किया जा रहा है, प्रतिष्ठारक्षक नहीं है।
6. उपभोक्ता आपस में प्रतियोगिता करते हैं।
7. उपभोक्ता की आय स्थिर रहती है।

माँग के नियम का अपवाद

सामान्यतः माँग के नियम कीमतों में वृद्धि होने पर माँग में कमी तथा कीमतों की कमी से माँग में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जाती है और माँग वक्र नीचे की ओर झुकता है। परन्तु इस सामान्य नियम के अपवाद भी हैं। प्रायः कीमतों में वृद्धि होने पर माँग में कमी के स्थान पर वृद्धि होने लगती है तथा कीमतों में कमी होने पर माँग में कमी होने लगती है।

इस प्रकार अपवाद की स्थिति में माँग रेखा नीचे झुकने की बजाय ऊपर उठने लगती है। इस प्रकार की अपवाद स्थिति निम्नलिखित दशाओं में पायी जाती है :–

1. **भविष्य में मूल्य वृद्धि की आशंका** – भविष्य में मूल्य वृद्धि की आशंका और मुद्रा की क्रय शक्ति में कमी के भय से उपभोक्त अधिक मात्रा में वस्तुओं को खरीद कर संग्रह करने लगते हैं। भविष्य में मूल्यों में कमी होने के भय से उपभोक्ता वस्तुओं को खरीदना इस आशा से बन्द कर देते हैं कि वे भविष्य में आवश्यकता की वस्तुओं को कम दाम में खरीद सकेंगे। इस प्रकार अवसाद काल में मूल्यों में निरन्तर कमी के साथ ही प्रभावपूर्ण इच्छा अथवा माँग की कमी इस सत्य को प्रमाणित करती है।
2. **उपभोक्ताओं की अज्ञानता** – बहुत से उपभोक्ता अज्ञानतावश वस्तु की श्रेष्ठता का अनुमान उसके मूल्य से लगाते हैं। जब वस्तु की कीमत कम होती है वे उस वस्तु को नहीं खरीदते हैं, परन्तु जैसे ही कीमत में वृद्धि हो जाती है, अनेक उपभोक्ता उस वस्तु की माँग करने लगते हैं। बेनहम ने एक पुस्तक के उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया है पुस्तक की कीमत कम होने के समय पर उसकी माँग कम थी परन्तु द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अधिक मूल्य पर जब उसी पुस्तक का महंगा संस्करण निकाला गया तो उसकी माँग में काफी वृद्धि हो गयी थी। इस प्रकार बहुधा उपभोक्ता की अज्ञानता के कारण भी कीमत में वृद्धि होने से भी माँग में कमी के स्थान पर वृद्धि हो जाती है।
3. **सामाजिक प्रतिष्ठा की वस्तुएं** – कभी-कभी ये भी देखने में आता है कि कुछ वस्तुओं की माँग उनकी कीमत में वृद्धि के साथ बढ़ती है। सामाजिक प्रतिष्ठा वाली वस्तुओं की माँग और कीमत में वृद्धि एक साथ हो सकती है। इन वस्तुओं को कम कीमत होने पर लोग उन्हें खरीदना पसन्द नहीं करते हैं। परन्तु जैसे-ही इन वस्तुओं की कीमत में वृद्धि हो जाती है लोग उनकी माँग करने लगते हैं। प्रदर्शन चित्र, अमूल्य रत्न आदि वस्तुओं में यह दशा पायी जाती है।

4. अनिवार्यताएँ – इन आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये मनुष्य सबसे ज्यादा आतुर रहा है। कीमत में वृद्धि से भी लोग इन वस्तुओं की माँग में कमी नहीं करते हैं। अधिकांश वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती है और कीमत में वृद्धि से भी उनकी माँग में कमी नहीं होती है।
5. आय वृद्धि – यदि उपभोक्ता आय की वृद्धि के कारण वस्तुओं की माँग अधिक मात्रा में करने लगते हैं अथवा मुद्रा प्रसार की स्थिति में जब लोगों की मौद्रिक आय में वृद्धि होती है तब इस प्रकार की अवस्था दिखलाई पड़ती है।
6. गिफिन विरोधाभास – इंग्लैण्ड के अर्थशास्त्री राबर्ट गिफिन ने निम्न वस्तुओं के बाजार व्यवहार का अध्ययन किया था। निम्न वस्तुएँ वे होती हैं जिनका उपभोग कीमतों में कमी के फलस्वरुप कम हो जाता है।

2.6 माँग की लोच (Elasticity of Demand)

माँग के नियम से वस्तुओं की कीमत और उनकी माँग के सामान्य सम्बन्धों का स्पष्टीकरण हो जाता है। कीमतों के परिवर्तन का माँग पर सीधा प्रभाव पड़ता है। कीमतों के परिवर्तन से माँग पर पड़ने वाले प्रभाव सदैव और सभी परिस्थितियों में समान नहीं रहते। उनके परिवर्तन की मात्रा में अन्तर पाया जाता है। कुछ वस्तुओं की माँग पर कीमतों में परिवर्तन का जहाँ गहरा प्रभाव पड़ता है वहीं कुछ वस्तुओं में अपेक्षाकृत कम प्रभाव दिखलाई पड़ता है। वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन से माँग की मात्रा में परिवर्तनों का विश्लेषण माँग की लोच के रुप में किया जाता है। माँग की लोच का अर्थ है कीमतों में परिवर्तन के परिणामस्वरुप माँग की मात्रा में अन्तर होना। लोच का अर्थ होता है घटने बढ़ने की क्षमता या गुण। इस प्रकार जब हम माँग की लोच शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य कीमतों की घट-बढ़ से माँग में परिवर्तन होता है।

लोच किसी वस्तु के विस्तार तथा संकुचन के स्वभाव को कहते हैं। लोच दो बातों पर निर्भर करती है *(क)* वस्तु का स्वभाव *(ख)* उस पर पड़ने वाला दबाव। यदि वस्तु लचीले स्वभाव वाली है तो कम दबाव से ही उसमें अधिक प्रसार हो जायेगा, परन्तु यदि वस्तु लचीले स्वभाव की नहीं है तो अधिक दबाव के बावजूद भी उसमें बहुत कम ही प्रसार हो पायेगा। माँग की लोच को भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है जो इस प्रकार है–

मेयर्स के अनुसार – "माँग की लोच किसी दी गई माँग-वक्र पर कीमत में हुए सापेक्षिक परिवर्तन के फलस्वरुप खरीदी गयी मात्रा के सापेक्षिक परिवर्तन की माप है।"

बेन्हम के अनुसार – "यह अवधारणा कीमत में एक थोड़े से परिवर्तन के माँग की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बन्धित है।"

माँग की लोच के प्रकार

1. माँग की कीमत-लोच
2. माँग की प्रतिलोच
3. माँग की आय लोच

माँग की कीमत-लोच

अर्थशास्त्र में ज्यादातर माँग की इसी लोच का अध्ययन किया जाता है। 'माँग की लोच' शब्द का आशय माँग की कीमत-लोच से ही लिया जाता है। जब हम वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने के परिणामस्वरुप माँग की मात्रा में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन की माप प्रस्तुत करते हैं तो उसे माँग की कीमत-लोच कहते हैं।

श्रीमती रॉबिन्सन के अनुसार – "किसी कीमत पर माँग की लोच, कीमत में थोड़े परिवर्तन के प्रत्युत्तर में क्रय की गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को कीमत आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है।"

NOTES

माँग की लोच इकाई, इकाई से अधिक, इकाई से कम, शून्य या अनन्त हो सकती है।

(1) माँग की इकाई लोच – माँग की लोच उस समय इकाई के बराबर होती है, जब माँग में परिवर्तन कीमत में परिवर्तन के ठीक अनुपात में हो। जो साथ वाले चित्र में दर्शाया गया है–

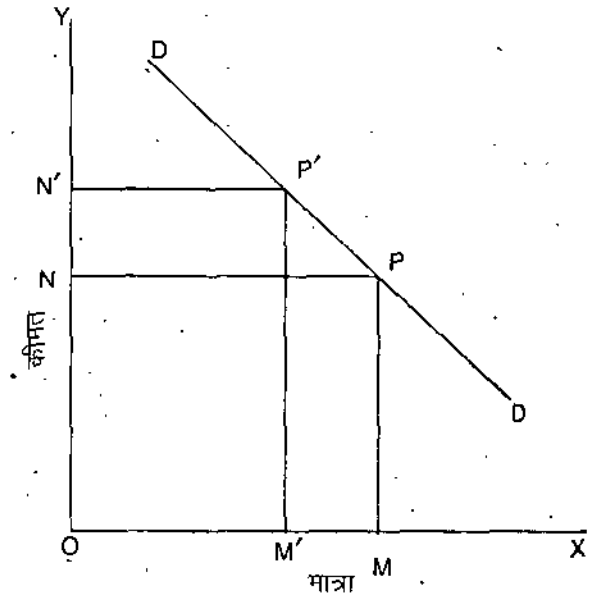

Fig. 10

उपरोक्त चित्र 10. में DD रेखा माँग वक्र को प्रकट करती है। जब कीमत 20% परिवर्तन होने पर माँग में 20% परिवर्तन होता है तो E = 20%/20% = 1 अतः कुल व्यय

OMPN = परिवर्तित व्यय OM'P'N' ।

(2) इकाई से अधिक लोच – माँग की लोच इकाई से अधिक होगी, जबकि वस्तु के मूल्य में कमी होने से वस्तु की माँग इतनी बढ़ जाये कि कुल व्यय पहले की अपेक्षा अधिक हो जाये। यदि कीमत में 20% परिवर्तन होने पर माँगी गई मात्रा में 40% परिवर्तन हो तो EP = 40%/20% = 2. नीचे वाले (Fig. 11) में इसे इस प्रकार दर्शाया गया है– चित्र में कुल व्यय OMPN से बढ़कर OM'P'N' हो गया है। अतः E > 1 है।

(3) माँग की शून्य लोच **(Zero Elasticity of Demand)** – माँग की लोच शून्य तब होती है जब कीमत में कितना भी परिवर्तन हो पर माँगी गई मात्रा में बिल्कुल कोई परिवर्तन नहीं होता। इस स्थिति में माँग की कीमत लोच बिल्कुल बेलोच होती है। कीमत में परिवर्तन होने पर माँगी गई मात्रा में कोई परिवर्तन न हो तो उसे पूर्णतया बेलोच माँग कहते हैं। (Fig. 13)

(4) इकाई से कम लोच – जब माँगी गई मात्रा में परिवर्तन कीमत में परिवर्तन के अनुपात से कम हो तो माँग की कीमत लोच इकाई से कम होती है। जब कीमत में 20% परिवर्तन होने पर माँगी गई मात्रा में 10% परिवर्तन हो, तो EP = 10%/20% = ½ = < 1 नीचें वाले चित्र 13 में कुल व्यय OMPN से घटकर OM'P'N' के बराबर रह गया है।

NOTES

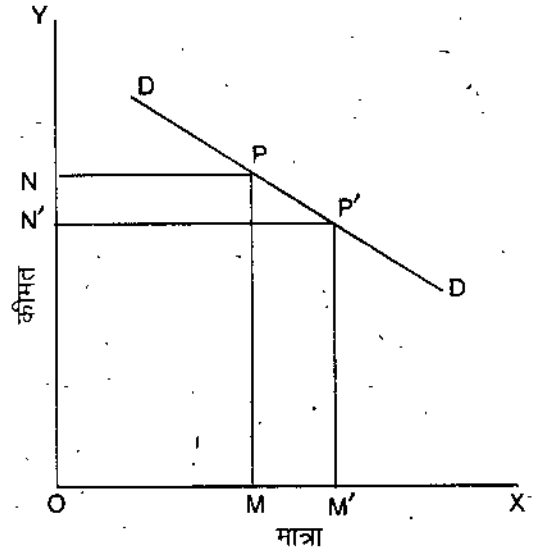

Fig. 11

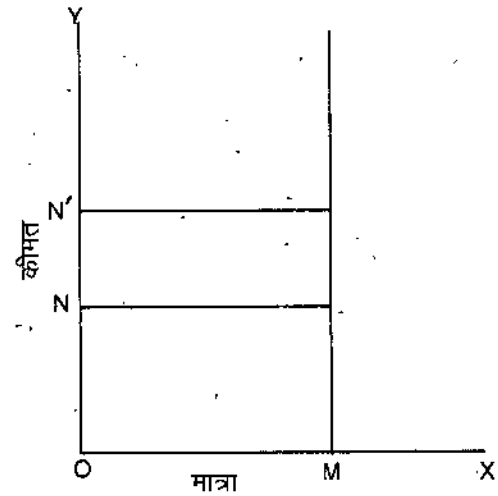

Fig. 12

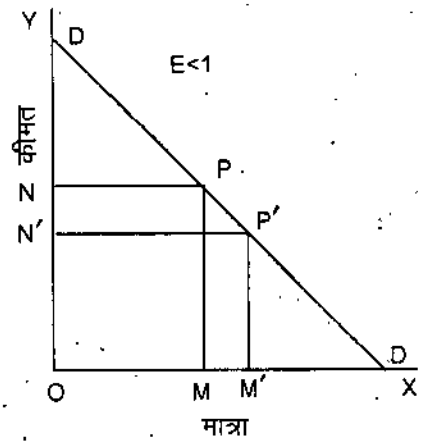

Fig. 13

NOTES

(5) अनन्त लोच **(Infinite Elasticity)** – माँग की कीमत-लोच अनन्त तब होती है जब कीमत में बहुत ही कम परिवर्तन होने पर माँगी गई मात्रा में अनन्त परिवर्तन हो जाए। जब देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कीमत में कोई परिवर्तन नही हुआ पर माँग में अनन्त परिवर्तन हो गया तो उसे पूर्णतया लोचदार माँग कहते हैं। (Fig. 14)

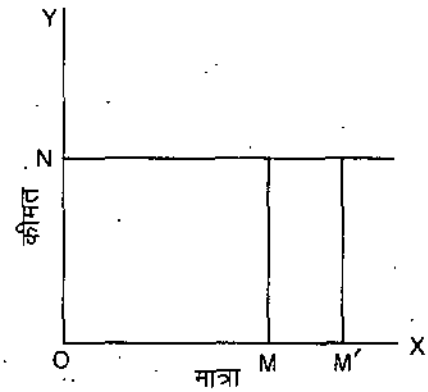

Fig. 14

माँग की कीमत लोच मापने की विधियाँ

माँग की लोच मापने की निम्नलिखित चार विधियाँ है –

(1) प्रतिशत विधि **(Percentage Method)**– माँग की कीमत लोच उसके गुणांक द्वारा मापी जाती है। यह गुणांक वस्तु की कीमत में परिवर्तन से माँगी गई मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन को मापता है। प्रतिशत विधि द्वारा माँग की लोच मापने का सूत्र इस प्रकार है –

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

उक्त फार्मूले की सहायता से हम माँग की कीमत लोच का आकलन कर सकते हैं।

(i) इकाई से अधिक – माना वस्तु A की कीमत 5 रु. प्रति कि.ग्रा. से कम होकर 3 रु. प्रति कि. ग्रा. हो जाती है और इसकी माँगी गई मात्रा 10 कि. ग्रा. से बढ़कर 30 कि. ग्रा. हो जाती है तब यह *एक से अधिक* माँग की लोच दर्शाता है।

(ii) इकाई के बराबर – माना A वस्तु की कीमत बढ़कर 3 रु. से 5 रु. प्रति कि.ग्रा. और माँगी गई मात्रा घटकर 30 कि. ग्रा. से 10 कि. ग्रा. हो जाती है, तब यह *इकाई के बराबर* माँग की लोच दर्शाता है।

(iii) इकाई से कम लोच – अब विपरीत दिशा में माना उस वस्तु की कीमत 1 रु. से बढ़कर 3 रु. प्रति कि.ग्रा. और माँगी गई मात्रा 50 कि.ग्रा. से कम होकर 30 कि.ग्रा. हो जाती है, तब यह बेलोच माँग *इकाई से कम माँग-लोच* है।

(2) बिन्दु विधि– माँग वक्र के किसी बिन्दु पर माँग की लोच को मापने के लिए मार्शल ने ज्यामितीय विधि निर्मित की, जिसके अनुसार

$$\text{माँग की कीमत लोच} = \frac{\text{माँग परिवर्तन की दर}}{\text{कीमत परिवर्तन की दर}}$$

$$= \frac{\text{मात्रा में परिवर्तन}}{\text{कीमत में परिवर्तन}}$$

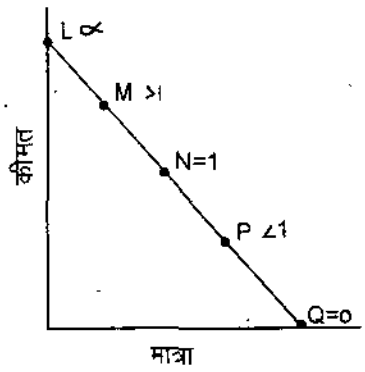

Fig. 15

बिन्दु विधि की सहायता से माँग वक्र के किसी भी बिन्दु पर लोच को बताना आसान है। दर्शाए गये चित्र में DC माँग वक्र सरल माँग वक्र है। इस माँग वक्र पर L,M,N,P एवं Q बिन्दु लिए गए हैं। इन सभी बिन्दुओं पर माँग की लोच को जाना जा सकता है। माना N बिन्दु DC माँग वक्र के मध्य में है अतः N बिन्दु पर माँग की लोच इकाई के बराबर है।

M बिन्दु पर माँग की लोच इकाई से अधिक है।

L बिन्दु पर माँग की लोच अनन्त है।

P बिन्दु पर माँग की लोच इकाई से कम है।

Q बिन्दु पर माँग की लोच शून्य है।

इस प्रकार माँग वक्र के मध्य बिन्दु पर माँग की लोच इकाई के बराबर होती है। मध्य बिन्दु से ऊपर की ओर जाने पर माँग की लोच अधिक होती है। जब माँग वक्र V अक्ष को स्पर्श करता है, तो माँग लोच अनन्त हो जाती है। मध्य बिन्दु से नीचे X अक्ष की ओर माँग की लोच कम हो जाएगी। जब माँग वक्र X अक्ष को स्पर्श करता है अर्थात् Q बिन्दु पर माँग की लोच शून्य हो जाती है।

(3) चाप विधि – जब एक ही माँग वक्र के दो बिन्दुओं के बीच लोच को मापा जाता है तो उसे चाप विधि कहते हैं। चाप का अभिप्राय सम्पूर्ण माँग वक्र से नहीं होता अपितु उसके एक टुकड़े से होता है। इस विधि में माँग की लोच को निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है – चित्र में DD वक्र के बिन्दु P और M के बीच का क्षेत्र एक चाप है जो निश्चित क्षेत्र में कीमतों और मात्राओं की लोच को मापता है।

(4) कुल व्यय विधि – *मार्शल ने लोच की माप के लिए कुल व्यय विधि का निर्माण किया। कीमत में परिवर्तन* से पहले और बाद में एक व्यक्ति के कुल खर्च की तुलना करनें से यह जाना जा सकता है कि एक वस्तु के लिए उसकी माँग अधिक लोचदार, इकाई या कम लोचदार है। वस्तु की खरीदी गई मात्रा को कीमत से गुणा करने पर कुल व्यय ज्ञात हो जाता है।

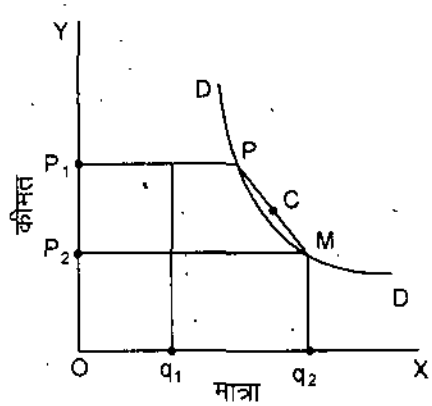

Fig. 16 A.

NOTES

(i) *लोचदार माँग* – एक वस्तु की माँग लोचदार होती है जब उसकी कीमत गिरने से कुल व्यय बढ़े और कीमत कम होने से कुल व्यय कम हो जाए। इस स्थिति में माँग लोचदार अर्थात् $E > 1$ होगी।

(ii) *इकाई के बराबर माँग लोच* – जब वस्तु की कीमत में कमी या बढ़ोत्तरी होने पर कुल व्यय में परिवर्तन न हो, तो माँग की लोच इकाई होगी अर्थात् $E = 1$ होगी।

(iii) *कम लोचदार माँग* – जब कीमत में कमी से कुल व्यय कम हो और कीमत बढ़ने से कुल व्यय बढ़े तो माँग कम लोचदार $(E < 1)$ होगी।

माँग की प्रति लोच

एक वस्तु की माँग-मात्रा में परिवर्तन का अर्थात् उसकी स्थानापन्न वस्तु की कीमत में प्रतिशत परिवर्तन का आनुपातिक संबंध माँग की प्रतिलोच है। इसे चाप लोच के सूत्र से भी मापा जा सकता है। उदाहरणार्थ मान लीजिये यदि कीमत 8 रु. प्रति कि.ग्रा. है तब कॉफी 100 कि.ग्रा. खरीदी जाती है, परन्तु यदि चाय की कीमत बढ़कर 10 रु. प्रति कि.ग्रा. हो जाती है तब कॉफी की माँग बढ़कर 120 कि.ग्रा. हो जाती है। इसी प्रकार यदि चाय की कीमत 8 रु. प्रति कि.ग्रा. है तब कॉफी की माँग 100 कि.ग्रा. है परन्तु यदि चाय की कीमत घटकर 6 रु. प्रति कि.ग्रा. हो जाती है, तब कॉफी की माँग घटकर 80 कि.ग्रा. रह जाती है।

(1) स्थानापन्नों की प्रतिलोच

स्थानापन्नों के विषय में प्रतिलोच धनात्मक होती है। गुणांक Eba जितना होगा, वस्तुएँ उतनी अच्छी स्थानापन्न होगी। यदि मक्खन की कीमत बढ़ जाए तो उससे मुरब्बे की माँग बढ़ जाएगी, इसी प्रकार मक्खन की कीमत कम हो जाने से मुरब्बे की माँग कम हो जाएगी।

(i) *इकाई से अधिक* – यदि वस्तु A की कीमत में परिवर्तन होने के कारण वस्तु B की माँग में अनुपात से अधिक परिवर्तन हो तो प्रति लोच ऊँची होती है। चित्र में वस्तु A की कीमत Y अक्ष पर और वस्तु B की मात्रा X अक्ष पर ली गई है, वस्तु B की माँग-मात्रा में परिवर्तन Ob_1, वस्तु A की कीमत में परिवर्तन Oa_1 के अनुपात से अधिक है, इसलिए प्रतिलोच इकाई से अधिक अर्थात् $E > 1$ है।

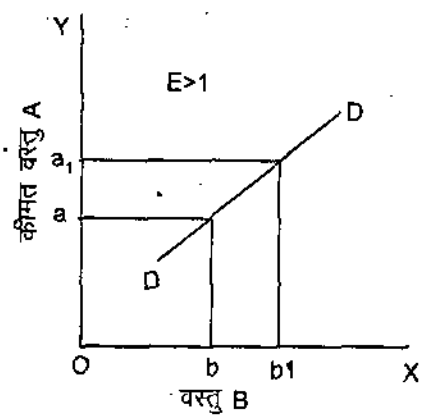

Fig. 16B

(ii) *इकाई के बराबर* – जब वस्तु A की कीमत में परिवर्तन के कारण वस्तु B की माँगी गई मात्रा में परिवर्तन के अनुपात समान हों। उस समय माँग की प्रतिलोच इकाई के बराबर होती है अर्थात् $E = 1$.

(iii) *इकाई से कम* – जब वस्तु B की माँगी गई मात्रा में परिवर्तन A वस्तु की कीमत में परिवर्तन के अनुपात से कम हो तब माँग की प्रतिलोच इकाई से कम $E < 1$ होती है। इसका अभिप्राय है कि A और B वस्तुएँ घटिया स्थानापन्न हैं।

NOTES

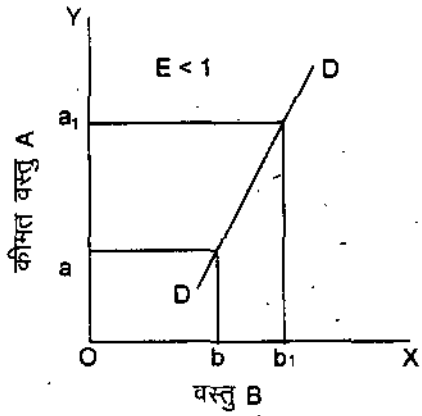

Fig. 17

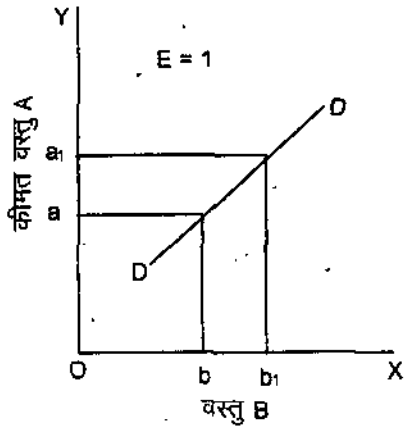

Fig. 18

(2) पूरक वस्तुओं की प्रतिलोच

यदि दो वस्तुएँ पूरक हों, तो एक वस्तु की माँग बढ़ने से दूसरी की माँग कम हो जाती है। कारों की कीमत गिरने से पेट्रोल की माँग बढ़ जाएगी क्योंकि कीमत और माँग में विपरीत दिशा में परिवर्तन होता है, इसलिए माँग की प्रतिलोच ऋणात्मक है। यदि वस्तु B की माँग-मात्रा में परिवर्तन वस्तु A कीमत में परिवर्तन के अनुपात के ठीक समान हो, तो प्रतिलोच इकाई के बराबर होती है।

जब B वस्तु की माँगी गई मात्रा में परिवर्तन वस्तु A की कीमत में परिवर्तन के अनुपात से अधिक हो तो प्रतिलोच इकाई से अधिक होती है।

जब वस्तु B की माँग-मात्रा में परिवर्तन वस्तु A की कीमत में परिवर्तन से कम हो, तो प्रति लोच ***इकाई से कम*** होती है।

माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)

माँग की आय लोच का सिद्धान्त उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने पर किसी वस्तु के लिए उसकी माँग में परिवर्तन को व्यक्त करता है। यदि आय के बढ़ने से एक वस्तु की माँग बढ़ती है, तो आय लोच गुणांक धनात्मक

NOTES

होता है। इसके विपरीत आय में कमी से वस्तु की माँग भी कम हो जाती है, तो आय लोच गुणांक ऋणात्मक होता है। यदि आय में परिवर्तन के बावजूद एक वस्तु की खरीदी गई मात्रा अपरिवर्तित रहती है तो माँग की आय लोच शून्य होती है।

किसी वस्तु की माँग की आय लोच इस बात को बतलाती है कि उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने पर उस वस्तु के लिये उसकी माँग में कितना परिवर्तन होता है। आय परिवर्तनों के प्रति माँग की अनुक्रियात्मकता को माँग की आय लोच कहा जाता है। स्टोनियर और हेग (Stonier and Hague) के अनुसार, "माँग की आय लोच किसी वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन तथा क्रेता की आय में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन के बीच के अनुपात को बतलाती है, यदि अन्य बातें समान रहती हैं।" वह किसी वस्तु के उपभोक्ता के द्वारा खरीदे जाने की उसकी आय में होने वाले परिवर्तनों के प्रति अनुक्रियात्मकता को बतलाती है। इसे निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है –

e_1 = (Percentage Change in Quantity Demanded /Percentage Change in Income)

अर्थात् आय लोच = $\frac{\text{माँग की जाने वाली मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{आय में परिवर्तन}}$

यदि उपभोक्ता की आय में होने वाली एक निश्चित वृद्धि के परिणामस्वरुप वस्तु की माँग में उससे अधिक अनुपात में वृद्धि होती है तो वस्तु के लिये आय लोच अधिक होगी। उदाहरणार्थ यदि आय के 1% बढ़ने पर माँग 10% बढ़ जाती है, तो यह आय लोच के ऊँचे होने को बतलाती है। इस परिस्थिति में –

$$e_1 = 10/10 = 1$$

इसके विपरीत यदि आय में 1% की वृद्धि होने पर वस्तु की माँग केवल 1% ही बढ़ती है तो आय की लोच कम होगी,

अर्थात् $$e_1 = (1/10)/1 = 1/10$$

अधिकांश वस्तुओं की माँग उपभोक्ता की आय के बढ़ने पर बढ़ती है और इसलिये आय लोच धनात्मक (Positive) होती है, किन्तु घटिया वस्तुओं के सम्बन्ध में आय लोच ऋणात्मक (Negative) होती है, क्योंकि इन वस्तुओं की माँग आय के बढ़ने पर गिरती है ।

माँग की आय लोच श्रेणियाँ

(1) **माँग की आय लोच शून्य (Zero Income Elasticity of Demand)** – जब आय में परिवर्तन की माँग की मात्रा पर कोई प्रभाव नही पड़ता है अर्थात् उपभोक्ता की आय के बढ़ने या घटने पर वस्तु की उतनी ही मात्रा की माँग की जाती है, तो माँग की आय लोच शून्य होगी।

(2) **माँग की आय ऋणात्मक** – जब उपभोक्ता की आय में वृद्धि होने पर वस्तु की माँग गिर जाती है तो आय लोच ऋणात्मक होती है।

(3) **माँग की आय लोच इकाई के बराबर** – जब उपभोक्ता की आय का अनुपात जो वह वस्तु विशेष पर खर्च करता है, आय में वृद्धि और उससे पहले एक ही रहता है अर्थात् आय का माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तो माँग की आय लोच इकाई के बराबर होती है।

(4) **आय लोच इकाई से अधिक** – जब वस्तु की माँग में होने वाली वृद्धि उपभोक्ता की आय में होने वाली वृद्धि से अधिक होती है तो माँग की आय लोच को इकाई से अधिक कहा जाता है।

(5) **आय लोच इकाई से कम** – माँग की आय लोच इकाई से कम तब होती है जब आय में वृद्धि के साथ उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय का कम अनुपात व्यय करता है।

NOTES

माँग की लोच का महत्व

1. **मूल्य निर्धारण में प्रयोग** – सैद्धान्तिक दृष्टि से माँग की लोच का विचार मूल्य निर्धारण की विश्लेषण प्रणाली में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। किसी वस्तु की माँग पर कीमतों के परिवर्तनों से क्या संभाव्य परिणाम होंगे? मूल्य निर्धारण प्रक्रिया में इसका अनुमान लगाना बहुत ही महत्वपूर्ण और यह इस विश्लेषण से सम्भव होता है।
2. **मूल्य-विभेद नीति का आधार** – एकाधिकारी मूल्यविभेदी की नीति को माँग की लोच से प्रभावित होकर अपनाता है। यदि वस्तु की माँग कुछ लोगों के लिए लोचदार है तो वह उनसे कम मूल्य लेगा अपेक्षाकृत उन व्यक्तियों के जिनके लिये माँग की लोच कम है। इस प्रकार मूल्य-विभेद की क्रियाशीलता की सफलता माँग की लोच से बहुत कुछ प्रभावित होती है।
3. **राजस्व में महत्व** – सरकार की वित्त नीतियों के निर्धारण और आय आदि के अनुमान में भी इस सिद्धान्त का उपयोग होता है। सरकार कर लगाने के समय माँग की लोच पर ध्यान देती है। यदि अधिक लोचदार वस्तुओं पर कर मात्रा अधिक हो जायेगी तो उन वस्तुओं का उपभोग समाप्त हो जायेगा और सरकार को पर्याप्त मात्रा में करों के माध्यम से आय प्राप्त न हो सकेगी।
4. **व्यापार में प्रयोग** – व्यापार के लेन-देन में विभिन्न वस्तुओं की माँगों की पारस्परिक लोचकता पर ध्यान दिया जाता है विनिमय दरों के निर्धारण तथा मुद्रा के अवमूल्यन एवं अधिमूल्यन आदि प्रश्नों पर विचार करने के लिए भी आयात और निर्यात की मदों का माँग की लोच पर विशेष ध्यान दिया जाता है।
5. **आवश्यकताओं का वर्गीकरण** – आवश्यकताओं के वर्गीकरण के आधार पर भी माँग की लोच के विचार का बड़ा महत्व है। जिन वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती हैं, उन्हे अनिवार्य समझा जाता है तथा कम लोचदार वस्तुयें विलासितापूर्वक होती है।

माँग की लोच को प्रभावित करने वाले तत्व

1. **वस्तु की प्रकृति** – अनिवार्य आवश्यकता वाली वस्तु की माँग बेलोचदार होती हैं क्योंकि गेहूँ अथवा नमक जैसी आवश्यक वस्तु की माँग मूल्य में परिवर्तन से बहुत ज्यादा प्रभावित नहीं होती है। दूसरी ओर, टेलीविजन, रेशम तथा नायलॉन के वस्त्र, कार, शृंगार सामग्री जैसी विलासिता की वस्तुओं की माँग लोचदार होती है क्योंकि इनकी कीमतों में परिवर्तन के कारण इनकी माँग में बहुत अधिक परिवर्तन होता है।
2. **प्रयोग की सीमा** – जिस वस्तु के अधिक प्रयोग होते हैं उसकी माँग लोचदार होती है। उदाहरण के लिए इस्पात। इसके मूल्य में थोड़ी सी कमी से माँग काफी बढ़ जाती है। इसके विपरीत कम प्रयोगों वाली वस्तु की माँग बेलोचदार होती है।
3. **विकल्पों की सीमा** – कम विकल्पों वाली वस्तु की माँग बेलोचदार होती है। अधिक विकल्पों वाली वस्तु की माँग लोचदार होती है क्योंकि उसके मूल्य में वृद्धि होने पर लोग वैकल्पिक वस्तुओं की ओर आकर्षित होते हैं तथा मूल्य घटने पर लोग विकल्पों को छोड़कर इस वस्तु का प्रयोग करने लगते हैं।
4. **आय का स्तर** – ऊँची आय वाले लोग मूल्य परिवर्तन से नीची आय वालों की तुलना में कम प्रभावित होते हैं। एक धनी व्यक्ति मूल्य बढ़ने के बावजूद भी दूध, फल आदि कीमती वस्तुओं का उपयोग करेगा अतः उसकी माँग बेलोचदार होती है। इसके विपरीत, एक गरीब आदमी के लिए इन वस्तुओं की माँग लोचदार होती है।
5. **वस्तु पर किये जाने वाले व्यय का अनुपात** – जहाँ कुल आय का बहुत छोटा हिस्सा किसी वस्तु

NOTES

पर व्यय होता है तो उसकी माँग बेलोचदार होती है। जैसे नमक, दियासलाई। जब आय का प्रमुख हिस्सा किसी वस्तु पर खर्च हो तो उसकी माँग लोचदार होती है।

6. **माँग की अत्यावश्यकता** – यदि ऐसी वस्तुएँ हैं जिनका क्रय करना ही पड़ता है तो उनकी माँग बेलोचदार होती है। दूसरी ओर, जिन वस्तुओं का उपभोग स्थगित हो सकता है उनकी माँग लोचदार होती है – जैसे मकान के पेंट की माँग।
7. **वस्तु का टिकाऊपन** – जो वस्तु टिकाऊ होती है तथा जिसकी मरम्मत कर काम चलाया जा सकता है उसकी माँग लोचदार होती है। जबकि नाशवान वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती है।
8. **वस्तु के क्रय की आवृत्ति** – यदि किसी वस्तु को बार-बार खरीदा जाता है तो यह मूल्य के प्रति बहुत लोचशील होती है तथा कम खरीदी जाने वाली चीज मूल्य के प्रति कम संवेदनशील रहती है।
9. **धन का समाज में वितरण** – *टॉसिंग* के अनुसार जिस समाज में धन का वितरण जितने न्यायपूर्ण ढंग से वितरित होगा वहाँ ज्यादा से ज्यादा चीजों की माँग अधिक लोचदार होगी। इसके विपरीत धन के असमान वितरण वाले समाज में माँग कम लोचदार होती है।
10. **समय का प्रभाव** – *मार्शल* का कहना है कि समय का प्रभाव माँग की लोच पर पड़ता है। इसका कारण यह है कि वस्तु के मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव तात्कालिक न होकर कुछ समय के बाद होता है। अतः कम समय में माँग लोच कम और अधिक समय में अधिक लोचदार होती है।
11. **उपभोक्ता की आदत** – जब उपभोक्ता को किसी वस्तु की आदत पड़ जाती है तो उसकी माँग उसके लिए बेलोचदार हो जाती है। शराब, चाय, काफी व सिगरेट पीने की आदतें इसका उदाहरण हैं।

2.7 माँग का पूर्वानुमान (Demand Forecasting)

किसी भी व्यवसाय का विक्रय माँग के अनुरुप होता है। उत्पादन सीधे विक्रय से जुड़ा हुआ है इसलिए माँग का ठीक-ठीक अनुमान करने से अति एवं अल्प उत्पादन से बचा जा सकता है। आगामी समय में माँग कब, कहाँ, कैसी और कितनी होगी इसे माँग पूर्वानुमान या पूर्वाभास कहते हैं। माँग पूर्वानुमान को 'विक्रय पूर्वानुमान या पूर्वाभास' का पर्याय माना जाता है।

फिलिप कोटलर के अनसार, "कम्पनी का पूर्वानुमान एक चुनी हुई बाजार योजना एवं दिये हुए बाजार सम्बन्धी वातावरण पर आधारित कम्पनी के विक्रय का आशान्वित स्तर है।"

पूर्वानुमान अल्पकालीन या दीर्घकालीन हो सकता है। अल्पकालीन पूर्वानुमान के अंतर्गत उत्पादन नीति का निर्माण, विक्रय लक्ष्य निर्धारण, अल्पकालीन पूँजी की गणना, इत्यादि किया जाता है। दीर्घकालीन पूर्वानुमान के अंतर्गत वर्तमान व्यवसाय का विस्तार, दीर्घकालीन वित्त व्यवस्था करना इत्यादि आता है।

2.8 माँग के पूर्वानुमान की विधियाँ

नयी वस्तुओं का माँग पूर्वानुमान

विद्यमान वस्तुओं से नयी वस्तुओं के माँग-पूर्वाभास की प्रणालियाँ भिन्न हैं इसका कारण यह है कि वस्तु फर्म तथा अर्थव्यवस्था दोनों ही के लिए नयी होती है। अतः इसकी आर्थिक तथा प्रतिद्वन्द्वी विशेषताओं का अध्ययन कठिन होता है। पूर्वाभास की प्रणालियाँ वस्तुतः आवश्यकता के अनुसार होनी चाहिए। इन प्रणालियों का वर्गीकरण नीचे दिया जाता है :

1. **विकासगत प्रणाली** – नयी वस्तु की माँग का विद्यमान वस्तु के विकास अथवा आविष्कार के परिणाम के रुप में अनुमान कीजिए। उदाहरण के लिए यदि रंगीन टेलीविजन की माँग बढ़ती है तो इसका अर्थ यह होता है कि काले व सफेद (Black and White) की माँग घट रही है। विकासात्मक प्रणाली

NOTES

तभी उपयोगी हो सकती है जबकि नयी वस्तु पुरानी वस्तु का इतना निकटतम विकल्प हो कि इसकी माँग विद्यमान वस्तु की सम्भावित प्रगति या सुधार के फलस्वरुप बढ़ी हुई माँग के बराबर हो। लेकिन इस प्रणाली में बड़ी समस्या यह है कि इसमें नयी माँग के ढाँचे तथा पुरानी वस्तुओं की माँग के बीच अन्तर करना कठिन होता है।

2. **वैकल्पिक प्रणाली** – वैकल्पिक प्रणाली के प्रयोग में लाने पर काफी सफलता मिलती है। अधिकांश नयी वस्तुएँ विकल्प ही होती हैं। जैसे कि वायु यातायात स्थल यातायात का विकल्प होता है। कभी-कभी पुरानी वस्तु नयी वस्तु के सम्भावित बाजार की अधिकतम सीमा निश्चित करती है। उदाहरण के लिये, बँधा हुआ रेल भाडा हवाई भाड़े के लिए अधिकतम सीमा निश्चित करता है। लेकिन यह भेदन सीमा है। जैसे कि बॉल प्वाइन्ट कलम के विक्रय ने फाउण्टेन पेन विक्रय की सम्भावनाओं को घटा दिया है। इसके अतिरिक्त वस्तु की विस्थापन दर नियम भी यह बतलाते हैं कि नयी वस्तु के विक्रय के विस्तार के लिए किस तरह से सुधार अथवा मूल्य-निर्धारण किया जाय? कई व्यावहारिक समस्याओं के लिए विकल्प की अधिकतम सीमा नहीं बल्कि भेद्य दर महत्वपूर्ण होती है। अर्थात् कितनी तेजी से नयी वस्तु पुरानी वस्तु को विस्थापित कर देगी। फिर भी नई वस्तुएँ बहुप्रयोग वाली होती हैं। प्रत्येक प्रयोग अलग-अलग विस्थापन की योग्यता की समस्या पैदा करता है। फलतः विद्यमान वस्तुओं का विस्थापन नयी वस्तु की सम्भावित माँग के एक अंश तक ही सीमित हो सकता है। जैसे कि यह कहा जाता है कि ऐलूमिनियम की पन्नी वाले लेबलों में बन्द होने वाली वस्तु ने कागज लेबल वाली वस्तु के बाजार को अधिक सीमा तक ले लिया है। लेकिन इस तरह का आक्रमण सम्बन्धित मूल्यों पर निर्भर करता है।

3. **विकास वक्र प्रणाली** – नयी वस्तु की माँग की विकास दर तथा अन्तिम स्तर का अनुमान कीजिए। यह अनुमान स्थापित वस्तुओं के विकास के ढाँचे के आधार पर होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि आप कुछ घरेलू वस्तुएँ बनाना चाहते हैं तो विद्यमान घरेलू वस्तुओं के बाजार विकास के नियम की जाँच करें। विकास-वक्र-प्रणाली की उपयोगिता सीमित होती है तथा बाद वाले माँग अनुमानों में इसके प्रयोग होते हैं। एक जैसी वस्तुओं के बाजार विकास की वास्तविक दर के व्यावहारिक नियम बनावें तो सफलता मिल सकती है। लघु स्तर के सर्वेक्षण के परिणामों पर अधिक निर्भर नहीं किया जा सकता है। इस प्रणाली का प्रयोग नये वायु-मार्ग तथा नये स्थल यातायात के सम्भावित विकास के अनुमान के लिए किया जाता है।

4. **मतदान प्रणाली** – अन्तिम क्रेताओं से पूछकर माँग की गणना करें और तब इसका पूरा-पूरा अनुमान लगायें। नयी औद्योगिक वस्तओं के लिए किसी ग्राहक के पास कम्पनी का इन्जीनियर भेजना इसका उदाहरण है। मतदान भी व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा नयी वस्तुओं की माँग की खोज में सहायता पहुँचाता है। किन्तु इस प्रणाली में नमूने वास्तविक इच्छाओं को जानने में विविध विकल्प चयन (Multiple Alternative Choice) की जटिलता तथा स्थापित वस्तुएँ जैसी समस्याएं होती हैं। इसके अतिरिक्त विक्रेता तथा क्रेता को यह जानना जरुरी हो जाता है कि नयी वस्तु क्या है और यह क्या काम आये? इसमें अभियन्त्रण परीक्षणों द्वारा अच्छे परिणाम मिल सकते हैं। जैसे पहले से जाने हुए गुंण रचना तथा मूल्य सहित पैदा किये जाने वाले नये रासायनिक पदार्थ को भविष्य के क्रेताओं के सामने रखा जा सकता है तथा उनके विचार जाने जा सकते हैं।

5. **विक्रय अनुभव प्रणाली** – इस प्रणाली के अन्तर्गत नयी वस्तु को नमूने अथवा किसी श्रंखला भण्डार में भेजिए और इससे सभी मार्गों तथा बाजार की कुल माँग का अनुमान किया जाय। नमूने के आधार पर नयी वस्तु के विक्रय का जो आधार होता है वह नियन्त्रित होता है तथा माँग का अनुमान ठीक-ठीक कर पाता है। फिर भी इस बात की कठिनाई होती है कि वस्तु की अपरिपक्वता तथा विशिष्टताओं के लिए कितनी छूट निर्धारित की जाय? कम पूँजी से पैदा होने वाली कम मूल्य की वस्तुओं को छोड़कर यह प्रणाली अनुसन्धान के विक्रय में देर से आती है।

NOTES

6. **परउत्तरदायित्व प्रणाली** – नयी वस्तु के प्रति उपभोक्ताओं की क्या प्रतिक्रिया है इसे अप्रत्यक्ष रुप से विशिष्ट विक्रेताओं द्वारा जानना चाहिए। क्योंकि ये विक्रेता उपभोक्ता की आवश्यकताओं तथा वैकल्पिक अवसरों के बारे में जानते हैं। परउत्तरदायित्व प्रणाली यद्यपि आसान है, लेकिन निश्चित नहीं होती है। साधारणतया यह कम अपनायी जाती है। विक्रेताओं की ओर से माँग सम्बन्धी गणना होती है उसकी फिर से एक बार जाँच हो जानी चाहिए। परन्तु इस प्रणाली से जो अनुमान मिलते हैं विक्रेता के अनुमान सम्बन्धी क्षमता से अधिक अच्छे नहीं होते हैं। कभी-कभी तो विक्रेता सूचना अन्यमनस्क ढंग से देते हैं।

विद्यमान वस्तुओं का माँग-पूर्वानुमान

यह एक सामान्य प्रक्रिया है क्योकि अनुमान-काल में, माँग के तत्व कम ही परिवर्तनशील होते हैं जिससे अनुमान लगाना आसान हो जाता है। ऐसी वस्तुओं के माँग-पूर्वानुमान की निम्न प्रमुख विधियाँ हैं :

1. क्रेताओं की इच्छा का सर्वेक्षण
2. जानकार व्यक्तियों का सर्वेक्षण
3. भूतकालीन प्रवृत्तियों का प्रदर्शन

1. क्रेताओं की इच्छाओं का सर्वेक्षण – निकट भविष्य में होने वाले विषय के अनुमान की सबसे सरल विधि ग्राहकों से यह पूछने की होती है कि वे क्या खरीदने की योजना बना रहे हैं। चूँकि सभी ग्राहकों से पूछना सम्भव नही है इसलिए नमूने के तौर पर कुछ ऐसे ग्राहकों से पूछा जा सकता है जो सभी ग्राहकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जब विक्रय औद्योगिक उत्पादनों का किया जाता है तो पूर्वानुमान का भार ग्राहक पर ही होता है। विक्रेता की समस्या मुख्य रुप से क्रेताओं को समझना है जिससे कि वे उत्पादक के पास क्रय की योजना रख सकें। कुछ छूट की आवश्यकता हो सकती है। सामान्यतया औद्योगिक क्रेता का ठीक-ठीक अनुमान विक्रेता के अनुमान को ठीक बना सकता है। क्रेता अपनी आवश्यकताओं के पूर्वानुमान को किसी निश्चित अनुमान के आधार पर करें। परन्तु क्रेता की वस्तु का भण्डार वास्तविक माँग में कुछ नर्मी बरतता है। फलतः मूल्य दृष्टि में थोड़ा भी परिवर्तन होने से उसके वस्तु के भण्डार के दृष्टिकोण में बहुत कुछ परिवर्तन आ सकता है। अतः औद्योगिक क्रेताओं के अनुमान की परीक्षा अपने अल्पकालीन मूल्य में परिवर्तनों की दृष्टि से कर लेनी चाहिए। लेकिन क्रेताओं के क्रय की अन्य इच्छाओं को जानने के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। सर्वप्रथम, किनका साक्षात्कार हो और नमूने कैसे बनें ? साक्षात्कार तथा नमूने के चुनाव का कार्य सरल नहीं होता है। ऊँची लागत का अर्थ होता है कि सर्वेक्षण संख्या में कम हो तथा ये कई महीनों की व्यय-योजनाओं को सम्मिलित कर लें। इस विधि से उपभोक्ताओं के क्रय की इच्छा में अनियमितता एवं ग्राहकों की चयन सम्बन्धी दूर-दृष्टि की असमर्थता को प्रभावहीन बना दिया जाता है।

2. जानकार व्यक्तियों का सर्वेक्षण – एक और प्रभावपूर्ण विधि यह होती है कि उन ग्राहकों के विचारों को जानना जो कि यह जानते हैं कि क्रेता क्या खरीदेगें ? कई कम्पनियाँ अपने पूर्वाभास सीधे अपने विक्रयकर्ताओं से लेती हैं। इसका आधार यह होता है कि विक्रयकर्ता सीधे ग्राहकों से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए उन्हें बाजार की स्थिति का पूर्ण ज्ञान रहता है। इसी तरह से आढ़तिया, थोक एवं खुदरा विक्रेता का विचार लिया जाता है। इस प्रकार के पूर्वाभास में व्यक्तिगत विक्रयकर्ताओं के अनुमानों को छोड़कर ही कुल अनुमान किया जाता है। फिर, आशा सम्बन्धी त्रुटियों को कम करने के लिए उच्च अधिकारियों द्वारा इसकी जाँच की जाती है। विशेषज्ञों द्वारा पूर्वानुमान के आधार को पहचानना कठिन है क्योंकि यह आधार दबाव के कारण ही बना दिया गया है। फिर भी कुछ वस्तुओं के लिए जैसे औद्योगिक संयन्त्र, विक्रयकर्ता पर निर्भर किया जा सकता है क्योंकि उसे अपनी वस्तुओं तथा ग्राहकों की वित्तीय आवश्यकताओं का ज्ञान होता है।

3. भूतकालीन प्रवृत्तियों का प्रदर्शन – सांख्यिकीय विधियों द्वारा काल-श्रेणियों का विश्लेषण कर विक्रय के भूतकालीन स्वभाव को दीर्घकालीन प्रवृत्ति, व्यावसायिक चक्र सम्बन्धी उच्चावचनों के चक्र को समूह तथा ऋतुगत ढाँचों जैसे कई भागों में विभक्त कर दिया जाता है।

इसका सूत्र – $O = TSCI$

जहाँ, O – परिक्षित आँकड़ों के लिए होता है, T – दीर्घकालीन प्रवृत्ति, S – ऋतुगत तत्व , C – चक्रीय तत्व तथा I – अनियमित परिवर्तन के लिए होते हैं।

NOTES

सर्वप्रथम मूल आँकड़ों से प्रवृत्ति (Trend) निकाली जाती है। प्रवृत्ति मूल्यों (Trend Values) को तब परीक्षित आँकड़ों (TSCI/T) से हटा दिया जाता है। इसके पश्चात् दूसरा पद ऋतुगत सूचकांक (Seasonal Index) बनाना होता है। इससे ऋतुगत प्रभाव को हटा दिया (SCI/S) जाता है। तब चक्र को बाकी बचे हुए चक्रीय तत्व तथा अनियमित परिवर्तन में समायोजित कर दिया जाता है।

अन्य विधियाँ

प्रवृत्ति की माप निम्नलिखित विधियों से की जा सकती है :

(क) ग्राफिक विधि

(ख) अर्द्ध-औसत विधि

(ग) चल औसत विधि

(क) ग्राफिक विधि (Graphic Method) – सबसे पहले किसी काल-श्रृंखला के मूल्यों को रेखा द्वारा एक ग्राफ पर लिखते हैं। इसके बाद रेखा द्वारा जोड़े हुए बिन्दुओं से होकर एक मुक्तहस्त वक्र (Freehand Curve) इस तरह खींचा जाता है कि यह आँकड़ों की सामान्य प्रवृत्ति को प्रकट करे। ऐसा वक्र बनाते समय आगे लिखी बातों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए –

(i) वक्र साफ-सुथरा होना चाहिए।

(ii) वक्र के ऊपर एवं नीचे के बिन्दु संख्या में एक-दूसरे के बराबर हों।

(iii) वक्र के ऊपर एवं नीचे के उदग्र विचलन का योग एक दूसरे के बराबर हो।

(iv) प्रवृत्ति वक्र से हुए उदग्र विचलन के वर्गों का योग न्यूनतम हो।

(ख) अर्द्ध-औसत विधि (Method of Semi-Averages) – इस विधि में समय के आधार पर सभी आँकड़ों को दो भागों में बाँटा जाता है। विषम संख्याओं (Odd Numbers) वाले वर्षों – जैसे 3, 5 व 7 वर्ष की स्थिति में दोनों भागों का मान मध्य वर्ष (Middle Year) को हटाकर निकाला जाता है।

(ग) चल औसत विधि (Method of Moving Averages) – इस विधि में चल औसत समय के मध्य-बिन्दु की प्रवृत्ति का मान दिये हुए वर्षों (महीनों, सप्ताहों अथवा दिनों) की संख्या का औसत मान होता है। मान लीजिए कि चल औसत का समय 5 वर्ष का है तो मद संख्या तीन के सामने इन पाँच वर्षों का औसत रखा जायगा। इसके बाद 2, 3, 4 और 5, 6 मदों का औसत मद संख्या 4 के सामने रखा जायेगा। पहली पाँच मदों का औसत निकालने तक इस क्रिया को दोहराया जायगा।

2.9 आय का प्रभाव (Income Effect)

उपभोक्ता की आय में परिवर्तन के फलस्वरुप उसकी माँग परिवर्तित हो जाती है। यदि उपभोग वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ता की रुचि स्थिर रहे तो आय में परिवर्तन के फलस्वरुप वस्तु की माँग और उपभोक्ता की सन्तुष्टि पर जो प्रभाव पड़ता है उसे आय प्रभाव कहते हैं। आय प्रभाव के अन्तर्गत हम उपभोक्ता की आय में परिवर्तन तथा वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता की स्थिति में उसके सन्तुलन पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करते हैं। स्पष्ट है कि आय में वृद्धि अथवा कमी के फलस्वरुप उसका सन्तुष्टि स्तर बढ़ेगा अथवा घटेगा।

मौद्रिक आय में वृद्धि के फलस्वरुप उपभोक्ता दो वस्तुओं X और Y की अधिक मात्रा और आय में कमी स्थिति में कम मात्रा की माँग करता है। इस प्रकार के मौद्रिक आय परिवर्तन का संतुष्टि व माँग की मात्रा पर प्रभाव को अर्थशास्त्री आय प्रभाव से सम्बोधित करते हैं।

NOTES

उपभोक्ता की मौद्रिक आय में परिवर्तन से आय रेखा अथवा बजट रेखा समान्तर रुप से स्थानान्तरित हो जाती है। इसका कारण यह है कि इससे दो वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

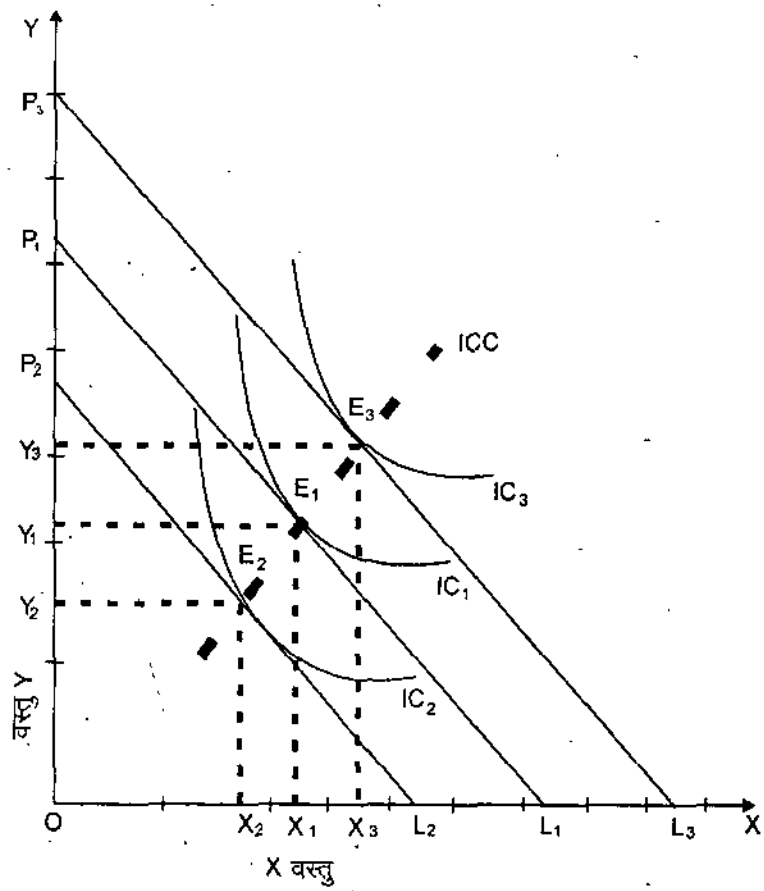

Fig. 19. आय उपभोग वक्र

चित्र द्वारा प्रदर्शन – आय प्रभाव को चित्र (Fig. 19) के द्वारा निरुपित किया जा सकता है। OX अक्षांश पर X वस्तु की मात्रा और OY अक्षांश पर Y वस्तु की मात्रा प्रदर्शित की गयी है। प्रारम्भिक स्थिति में उपभोक्ता की बजट रेखा P_1L_1 है। बजट रेखा और उदासीनता वक्र IC_1 के स्पर्श बिन्दु E_1 पर उपभोक्ता सन्तुलन होता है। इस स्थिति में उपभोक्ता X तथा Y वस्तुओं की OX_1 तथा OY_1 मात्रायें खरीदता है। अब यदि उपभोक्ता की आय में कमी हो जाती है तो नया सन्तुलन E_2 होगा क्योंकि बजट रेखा मूल बिन्दु की ओर विवर्तित होकर P_2L_2 हो जायेगी। अब वस्तुओं की मात्रा OX_1 और OY_1 से घटकर OX_2 और OY_2 हो जाती है। इसी प्रकार मौद्रिक आय बढ़ने पर नया सन्तुलन बजट रेखा P_3L_3 और उदासीनता वक्र के स्पर्श बिन्दु E_3 पर स्थापित होगा। इस प्रकार हम देखतें हैं कि मौद्रिक आय बढ़ने और घटने पर उपभोक्ता सन्तुलन क्रमशः उच्च और निम्न बजट रेखा पर होता है। हम जानते ही हैं कि उदासीनता वक्र की उँचाई सन्तुष्टि के स्तर को व्यक्त करती है और बजट रेखा उपभोक्ता की X और Y वस्तुओं को खरीदने की क्षमता को प्रदर्शित करती है। उच्च सन्तुष्टि स्तर पर दोनों वस्तुओं की अधिक मात्रा का उपभोग होता है। दोनों वस्तुओं X और Y की मात्रा में मौद्रिक आय में उच्चावचनों के फलस्वरुप परिवर्तन को ही आय प्रभाव कहा जाता है।

आय-उपभोग वक्र – आय उपभोग वक्र, मौद्रिक आय परिवर्तन के फलस्वरूप विभिन्न उपभोक्ता सन्तुलन बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा है। यह वक्र कीमत उपभोक्ता दर्शाने की आय परिवर्तन और दो वस्तुओं की उपभोग मात्रा में परिवर्तनों से सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है।

(Fig. 19) में E_1, E_2, E_3, बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा आय उपभोग वक्र है। आय उपभोग वक्र उपभोक्ता के साम्य बिन्दुओं का बिन्दु पथ (Locus) उस स्थिति में है जब उपभोग वस्तुओं की कीमतें स्थिर और

उपभोक्ता की आय परिवर्तित हो रही हो। सामान्यतः आय उपभोग वक्र दाहिनी ओर ऊपर उठते हुए होते हैं जो इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि जैसे-जैसे आय में वृद्धि होती है वैसे-वैसे दोनों वस्तुओं की माँग में भी वृद्धि होती जाती है। इस प्रकार यह वक्र आय प्रभाव का अनुरेखण (Trace) करता है।

NOTES

आय प्रभाव के प्रकार (Types of Income Effect)

आय प्रभाव मूलतः तीन प्रकार के होते हैं और इनके अनुरुप आय उपभोग वक्र का आकार भी बदलता रहता है।

1. धनात्मक आय प्रभाव
2. ऋणात्मक आय प्रभाव
3. तटस्थ आय प्रभाव

1. धनात्मक आय प्रभाव **(Positive Income Effect)** – जब मौद्रिक आय में वृद्धि से अन्य बातें स्थिर रहने पर माँग की मात्रा में वृद्धि होती है तो धनात्मक प्रभाव सामान्य अथवा श्रेष्ठ वस्तुओं (Normal or Superior Goods) में होता है। सामान्यतः यही प्रभाव क्रियाशील होता है और इसमें आय उपभोग वक्र बायें से दायें ऊपर उठता हुआ होता है। (Fig. 20) में यह प्रदर्शित है।

2. ऋणात्मक आय प्रभाव **(Negative Income Effect)** – आय प्रभाव ऋणात्मक तब होता है जब आय वृद्धि के साथ उपभोग की मात्रा घट जाती है। आय वृद्धि और उपभोग की मात्रा में ऋणात्मक सम्बन्ध होता है। निम्न वस्तुओं (Interior Goods) का उपभोग उपभोक्ता आय वृद्धि के साथ हीन समझ कर घटा देते हैं। ऋणात्मक आय प्रभाव में दो स्थितियाँ हो सकती हैं।

(i) जब X वस्तु सामान्य और Y वस्तु निम्न हो।

(ii) जब Y वस्तु सामान्य और X वस्तु निम्न हो।

(i) *प्रथम स्थिति : Y निम्न वस्तु* –इसमें उपभोक्ता आय में वृद्धि के एक निश्चित आय स्तर तथा वस्तुओं के उपभोग में वृद्धि करेगा उसके बाद निम्न वस्तु Y का उपभोग घटा देगा। चित्र में ICC वक्र पहले बढता है फिर बायें से दायें X अक्षांश की ओर झुकता जाता है जिससे स्पष्ट होता है कि Y निम्न वस्तु है और उसका उपभोग गिर रहा है।

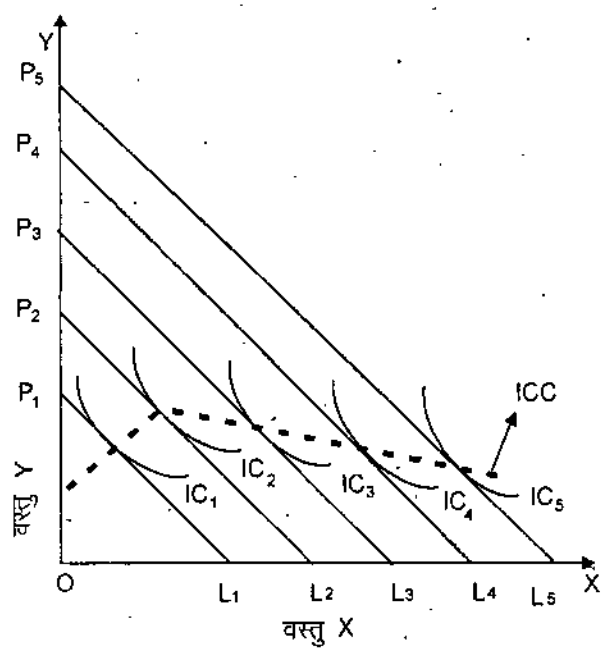

Fig. 20. ऋणात्मक आय प्रभाव : Y वस्तु निम्न

NOTES

(Fig. 18) में आय उपभोग वक्र प्रारम्भ में IC_2 उदासीनता वक्र तक बढ़ता है फिर वह गिरने लगता है जो इस बात को प्रदर्शित करता है कि हीन वस्तु Y का उपभोग कम होता जाता है।

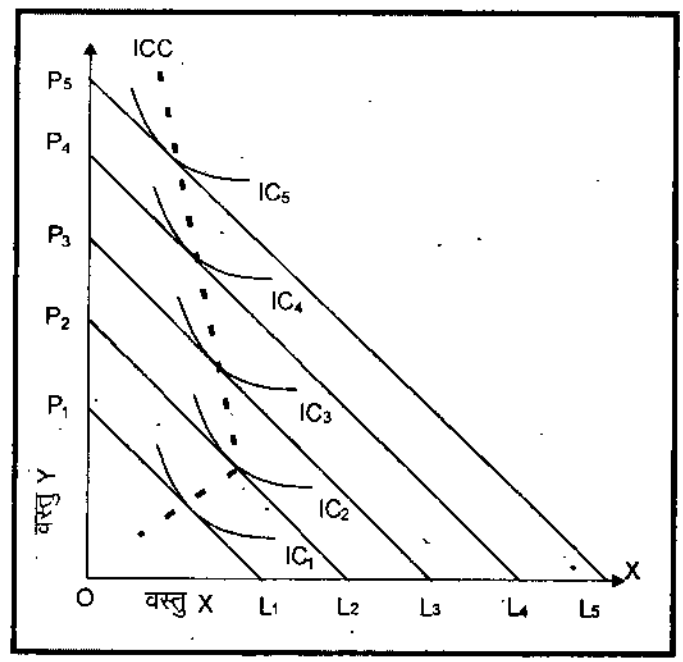

Fig. 21. ऋणात्मक आय प्रभाव : X वस्तु निम्न

(ii) द्वितीय स्थिति: X निम्न वस्तु – इस स्थिति में आय वृद्धि के पहले चरण में वस्तुओं का उपभोग बढ़ता है परन्तु कालान्तर में X वस्तु का उपभोग हीन वस्तु होने के कारण कम होता जाता है। इस स्थिति में आय उपभोग वक्र Y अक्षांश की ओर झुका हुआ होता है।

(Fig. 21) में आय उपभोग वक्र प्रारम्भ में बढ़कर IC_2 वक्र के सन्तुलन के बाद ऊपर की ओर उठ जाता है जो यह प्रदर्शित करता है कि X हीन वस्तु है क्योंकि इसका उपभोग, आय वृद्धि के साथ कम हो जाता है।

उपरोक्त दोनों स्थितियों में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि X और Y वस्तुयें निश्चित आय स्तर के बाद ही हीन वस्तु का व्यवहार प्रदर्शित करती हैं।

(iii) तटस्थ आय प्रभाव (Neutral Income Effect) – तटस्थ आय प्रभाव उस स्थिति में होता है जब आय स्तर में परिवर्तन के फलस्वरुप दोनों में एक वस्तु की मात्रा में तो परिवर्तन होता है परन्तु दूसरी वस्तु की मात्रा समान (तटस्थ) ही रहती है। इसी प्रकार (Fig. 22) में X वस्तु तटस्थ है और आय परिवर्तन के फलस्वरुप सारा परिवर्तन Y वस्तु की मात्रा में ही हो रहा है। इस स्थिति में आय उपभोग वक्र Y अक्षांश के समानान्तर होता है। (Fig. 23) में आय में परिवर्तन के कारण X वस्तु की मात्रा तो परिवर्तित हो रही है परन्तु Y वस्तु की मात्रा वही बनी हुई है। इससे आय उपभोग वक्र X अक्षांश के समानान्तर हो जाता है।

NOTES

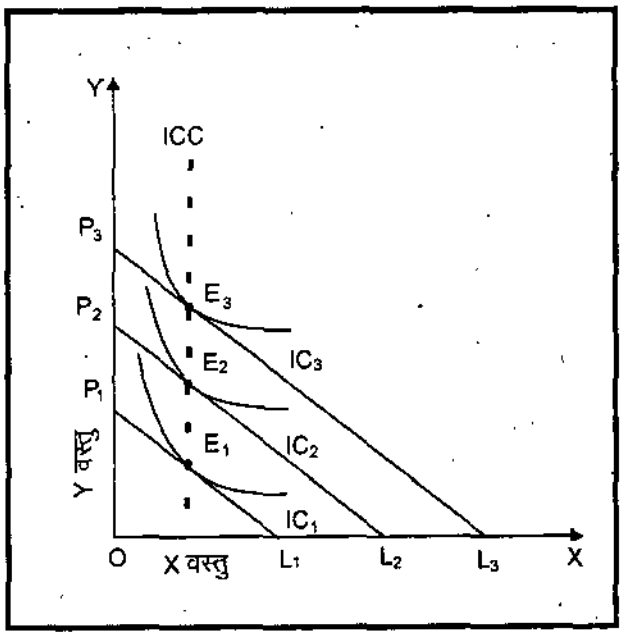

Fig. 22. तटस्थ आय प्रभाव : X वस्तु तटस्थ

आय-उपभोग वक्र की विभिन्न प्रकार के आय प्रभाव में स्थितियों को (Fig. 22) द्वारा प्रदर्शित किया गया है– उपरोक्त चित्र के अनुसार –

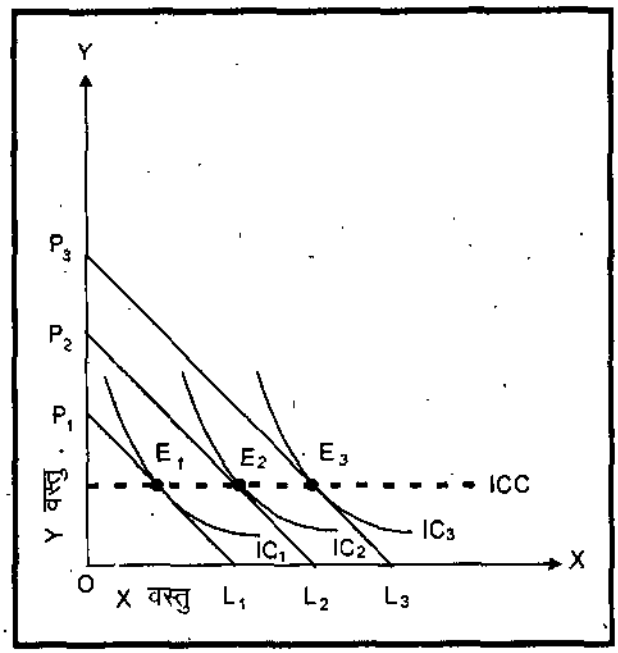

Fig. 23. ऋणात्मक आय प्रभाव : Y वस्तु तटस्थ

NOTES

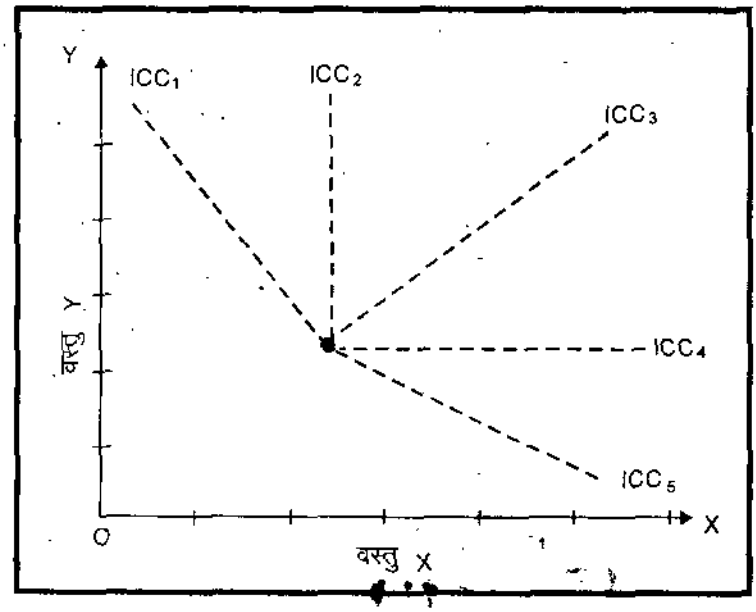

Fig. 24. आय–उपभोग वक्र की स्थितियाँ

वस्तु प्रकार	*आय प्रभाव*	*आय का उपभोग*
सामान्य	धनात्मक	ICC_3
X निम्न	ऋणात्मक	ICC_5
Y निम्न	ऋणात्मक	ICC_1
X तटस्थ	तटस्थ	ICC_2
Y तटस्थ	तटस्थ	ICC_4

2.10 मूल्य या कीमत का प्रभाव (Price Effect)

मूल्य प्रभाव एक ऐसी स्थिति का घोतक है जब उपभोक्ता की मौद्रिक आय, रुचियाँ तथा अन्य वस्तुओं की कीमत में कोई परिवर्तन न हो और केवल एक वस्तु की कीमत बदल जाये। इस परिवर्तन के फलस्वरुप उपभोक्ता द्वारा उसकी माँग की मात्रा में जो परिवर्तन देखा जाता है उसे कीमत प्रभाव कहा जाता है। इस प्रकार कीमत प्रभाव उपभोक्ता की किसी वस्तु की कीमत में परिवपर्तन के फलस्वरुप वह समग्र प्रभाव है जो कि उस वस्तु की क्रय की जा रही मात्रा पर पड़ता है।

कीमत प्रभाव में उपभोक्ता की आय में कोई क्षतिपूरक परिवर्तन नही होता जैसा कि हम प्रतिस्थापन प्रभाव में देखते हैं कि Y वस्तु मंहगी हो जाने पर X वस्तु सस्ती हो जाती है। अथवा इसमें प्रतिस्थापन प्रभाव की भाँति वास्तविक आय को स्थिर नहीं रखा जाता है। कीमत प्रभाव की धारणा का सारांश यह है कि जब किसी वस्तु की कीमत में कमी या वृद्धि होती है तो उपभोक्ता की सन्तुष्टि का स्तर बदलता है। जब वस्तु की कीमत घटती है तब उपभोक्ता ऊँचे उदासीनता वक्र पर नया सन्तुलन प्राप्त करता है अर्थात् उसकी सन्तुष्टि बढ़ जाती है। इसके विपरीत जब वस्तु की कीमत बढ़ती है तो वह नीचे उदासीनता वक्र पर सन्तुलन प्राप्त करता है अर्थात् उसकी सन्तुष्टि घट जाती है। कीमत प्रभाव को इस प्रकार समझ सकते हैं –

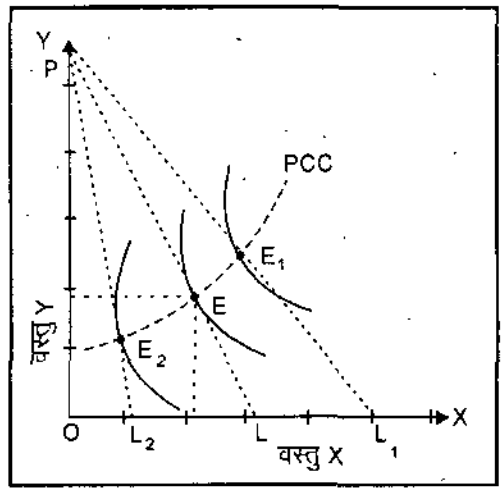

Fig. 25. कीमत प्रभाव

(Fig. 25) में X वस्तु की मात्रा को OX अक्षांश पर दर्शाया गया है। OY अक्षांश पर Y वस्तु की मात्रा और आय को दर्शाया गया है। चित्र में हम देखते हैं कि X वस्तु की कीमत घट जाने पर उपभोक्ता OL के स्थान पर X वस्तु की OL_1 मात्रा की माँग करता है और ऊँचे उदासीनता वक्र IC_1 पर नया सन्तुलन E_1 प्राप्त करता है। जब X वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तो उपभोक्ता OL मात्रा के स्थान पर X वस्तु OL_2 मात्रा का ही प्रयोग करता है और नीचे उदासीनता वक्र IC_2 पर नया सन्तुलन E_2 प्राप्त करता है। उपभोक्ता द्वारा माँग की मात्रा का यही परिवर्तन कीमत-प्रभाव है। इसी प्रकार हम Y वस्तु की कीमत घट जाने पर कीमत प्रभाव को भी प्रदर्शित करते हैं। यहाँ माँग के नियम की क्रियाशीलता स्पष्ट है।

मूल्य उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) – कीमत उपभोग वक्र एक वस्तु की विभिन्न कीमतों पर उपभोक्ता सन्तुलन बिन्दुओं का बिन्दु पथ है। यदि मौद्रिक आय और दूसरी वस्तु की कीमतें स्थिर रहें तो कीमत उपभोग वक्र किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन के फलस्वरुप उपभोक्ता की सन्तुष्टि पर प्रभाव को प्रदर्शित करता है। कीमत उपभोग वक्र विभिन्न परिवर्तनों में भिन्न स्वरुप के होते हैं। इनकों चित्र की सहायता से प्रदर्शित किया गया है।

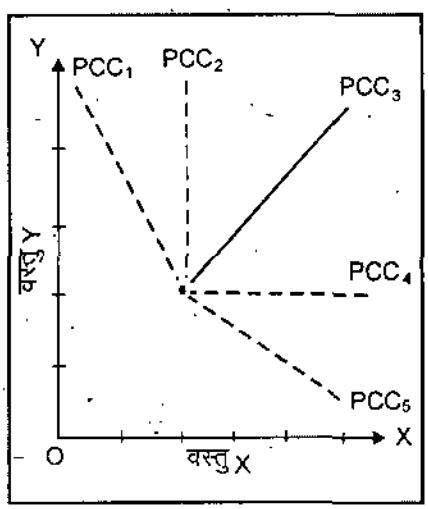

Fig. 26. मूल्य उपभोग वक्र की स्थिति

NOTES

(Fig. 26) के अनुसार कीमत उपभोग वक्र की स्थितियाँ निम्न हैं –

	वस्तु प्रकार	कीमत प्रभाव	कीमत उपभोग वक्र
1.	X वस्तु निम्न Y वस्तु श्रेष्ठ	ऋणात्मक	PCC_1
2.	X वस्तु तटस्थ	तटस्थ	PCC_2
3.	X वस्तु सामान्य	धनात्मक	PCC_3
4.	Y वस्तु तटस्थ	तटस्थ	PCC_4
5.	X वस्तु श्रेष्ठ Y वस्तु निम्न	धनात्मक	PCC_5

हिक्स के अनुसार किसी वस्तु की कीमत से परिवर्तन के फलस्वरुप माँग में दो प्रकार के प्रभाव होते हैं–

(a) ***आय प्रभाव*** – कीमत परिवर्तित होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय परिवर्तित होती है और माँग पर मौद्रिक आय परिवर्तन जैसा ही प्रभाव पड़ता है।

(b) ***प्रतिस्थापन प्रभाव*** – कीमत परिवर्तन से वस्तुओं के परस्पर मूल्य परिवर्तित होते हैं और एक वस्तु को दसरी वस्तु से प्रतिस्थापित करने की प्रक्रिया होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त दोनों ही प्रभाव कीमत परिवर्तन के फलस्वरुप होते हैं और उपभोक्ता के सन्तुष्टि स्तर को प्रभावित करते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि

मूल्य प्रभाव = आय प्रभाव + प्रतिस्थापन प्रभाव

Price Effect = Income Effect + Substitution Effect

प्रभावों का पृथकीकरण (Separation of Effects)

कीमत प्रभाव के विलेषण में यह आवश्यक है कि उपरोक्त दोनों प्रभावों को पृथक किया जाये। इसकी दो प्रचलित रीतियाँ हैं –

(a) हिक्स-ऐलन की रीति (Hicks-Allen Method)

(b) स्लट्स्की की रीति (Slutsky Method)

(a) हिक्स-ऐलन रीति (Hicks-Allen Method) : हिक्स और ऐलन ने संयुक्त रुप से उपभोक्ता माँग पर आय प्रभाव एवं प्रतिस्थापन प्रभाव को अलग-अलग प्रदर्शित किया है। चित्र में प्रारम्भिक कीमत रेखा PL थी जिस पर उपभोक्ता का सन्तुलन E था। X वस्तु की कीमत कम होने पर नयी कीमत रेखा PL_1 पर नया सन्तुलन E_2 हो जाता है। वस्तु की मात्रा जो पहले OX तथा OY थी वह बढ़कर OX_2 तथा OY_2 हो गयी क्योंकि उपभोक्ता की क्रय शक्ति बढ़ गयी है। उपभोक्ता के सन्तुलन का विस्थापन E से E_2 सीधा न होकर E से E_1 और फिर E_1 से E_2 होता है। X वस्तु की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि होती है जिसे हम मौद्रिक आय कम करके कीमत रेखा MN को पूर्व स्तर पर लाते हैं। इससे नया सन्तुलन E_1 प्राप्त होता है। क्योंकि उपभोक्ता X वस्तु का उपभोग XX_1 मात्रा Y वस्तु YY_1 मात्रा कम करके बढ़ा देता है। इस प्रकार उपभोक्ता का E से E_1 बिन्दु तक गमन प्रतिस्थापन प्रभाव तथा E_1 से E_2 तक गमन आय प्रभाव को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार

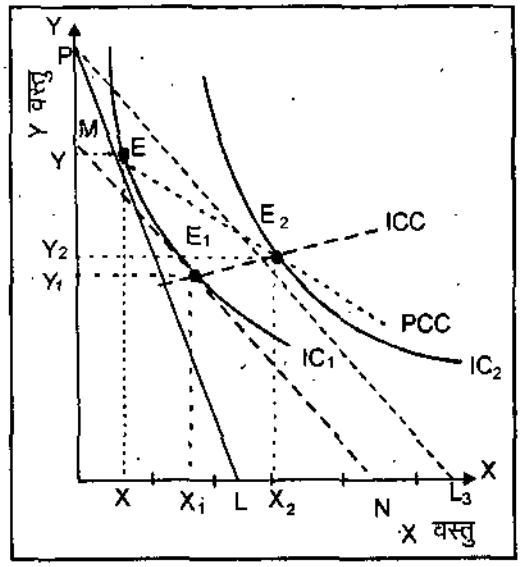

Fig. 27. हिक्स–ऐलन रीति

कीमत प्रभाव = प्रतिस्थापन प्रभाव + आय प्रभाव

(साम्य बिन्दु E से E_2) = (साम्य बिन्दु E से E_1) + (साम्य बिन्दु E_1 से E_2)

मात्रा परिवतन : OX से OX_2 = (OX से OX_1) + (OX_1 से OX_2)

(a) स्लट्स्की की रीति (Slutsky Method) : कीमत प्रभाव के प्रतिस्थापन और आय प्रभावों में विभाजित करने की एक रीति स्लट्स्की द्वारा भी दी गयी है। स्लट्स्की कीमत में कमी के फलस्वरुप उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि को मौद्रिक आय को पूर्व संयोग खरीद सकने के स्तर तक कम कर क्षतिपूरक परिवर्तन करते हैं और तत्पश्चात प्रतिस्थापन प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। कुल कीमत प्रभाव में से प्रतिस्थापन प्रभाव कम कर देने से आय प्रभाव मालूम हो जाता है।

(Fig. 28) में उपभोक्ता का प्रारम्भिक सन्तुलन उदासीनता वक्र IC_1 पर E बिन्दु पर था जहाँ OX तथा OY उपभोग मात्रायें थीं। X वस्तु की कीमत कम होने पर कीमत रेखा PL_1 हो जाती है।

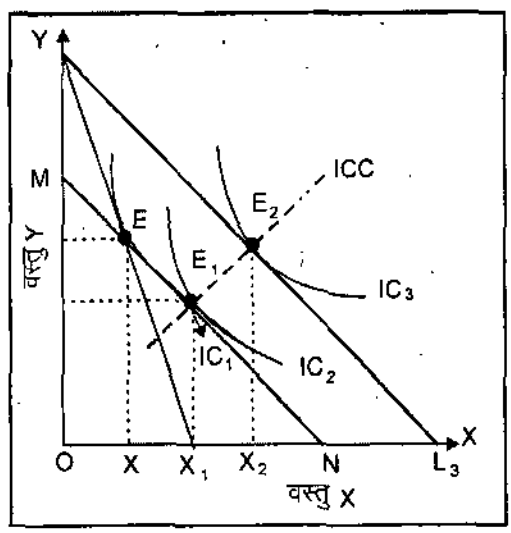

Fig. 28. स्लट्स्की की रीति

NOTES

स्लट्स्की प्रतिस्थापन प्रभाव ज्ञात करने हेतु वास्तविक आय को स्थिर रखने के लिये मौद्रिक आय को इतना कम करते हैं कि उपभोक्ता पूर्व मात्राओं को खरीद सके। इसलिए विस्थापित काल्पनिक कीमत रेखा MN बिन्दु E से गुजरती है। इस रेखा पर उपभोक्ता नया सन्तुलन E_1 प्राप्त करता है जो कि उच्च सन्तुष्टि स्तर वाले उदासीनता वक्र IC_2 पर स्थित है। साम्य बिन्दु E_1 पर X की मात्रा OX से बढ़कर OX_1 हो जाती है। यदि काल्पनिक रुप से कम की आय की मात्रा उपभोक्ता को वापस कर दी जाये तो नया सन्तुलन E_2 होगा और OX वस्तु कीमत OX_1 से बढ़कर OX_2 हो जायेगी। स्पष्ट है कि बिन्दु E_1 से E_2 तक गमन आय प्रभाव के कारण है। इस प्रकार –

कीमत प्रभाव = प्रतिस्थापन प्रभाव + आय प्रभाव

E से E_2 = E से E_1 + E_1 से E_2

XX_2 मात्रा = XX_1 मात्रा + X_1X_2 मात्रा

अतः हमें यह ज्ञात होता है कि माँग पूर्वानुमान पर आय एवं मूल्य का प्रभाव पड़ता है तथा यह किसी भी वस्तु की माँग पर प्रभाव डालता है।

2.11 उदासीनता वक्र विश्लेषण (Indifference Curve Approach)

उदासीनता वक्र की धारणा का प्रतिपादन सर्वप्रथम इटैलियन विचारक पैरेटो (Pareto) ने किया था। कालान्तर में हिक्स (Hicks), एलन (Allen), चैम्बरलिन (Chamberlin), वीजर (Wieser), बाउले (Bowley), आदि विचारकों ने इस धारणा को विकसित रुप प्रदान किया। उनके अनुसार उपयोगिता को मापा नही जा सकता वरन उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन उसके अधिमानता के क्रमों के आधार पर किया जाता है। उदासीनता-वक्र विश्लेषण का प्रमुख आधार यह है कि उपभोक्ता किसी वस्तु की पृथक माँग रखने की बजाय निश्चित 'अधिमान माप' (Scale of Preferences) रखता है। प्रत्येक अधिमान माप में दो या अधिक वस्तुओं के अनेक वैकल्पिक संयोग होते है। प्रत्येक संयोग से समान संतुष्टि मिलने के कारण उपभोक्ता उनके चुनाव के सम्बन्ध में उदासीन रहता है।

उदासीनता वक्र (Indifference Curve)

'तटस्थता वक्र' (उदासीनता-वक्र या अनधिमान-वक्र) दो वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगो को दर्शाने वाला पथ है, जिनसे प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि समान रहती है। अतः उपभोक्ता दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों में से कोई एक संयोग चुनने के प्रति तटस्थ रहता है। ईस्थम के शब्दों में, "यह मात्राओं के उन संयोगों का प्रतिनिधित्व करने वाले बिन्दुओं का पथ है जिनके बीच व्यक्ति तटस्थ रहता है। इसीलिये इसे 'तटस्थता-वक्र' कहा जाता है।" फर्ग्यूसन के अनुसार, "उदासीनता-वक्र ऐसे बिन्दुओं का मार्ग है, जिनमें से प्रत्येक बिन्दु कुल उपयोगिता का समान स्तर प्रदान करता है या जिनके बीच उपभोक्ता उदासीन रहता है।"

उदासीनता-वक्र को 'सम-तुष्टिगुण' (Iso-utility Curve) भी कहा जाता है; क्योंकि इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु समान सन्तुष्टि व्यक्त करता है। *लैप्टविच* ने उदासीनता-वक्र को 'समोच्च रेखा' (Contour Line) की संज्ञा दी है, क्योंकि इसके सभी बिन्दुओं पर उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। बोल्डिंग के शब्दों में, "समान वरीयता दिखाने वाली रेखायें तटस्था-वक्र कहलाती हैं क्योंकि ये मात्राओं के उन संयोगों का प्रतिनिधित्व करती है, जो एक दूसरे से न तो अच्छे होते हैं और न बुरे।"

उदासीनता वक्र का स्वभाव

उदासीनता-वक्र का स्वभाव समझाने के लिये हमें उपभोक्ता की काल्पनिक तटस्थता–सारणी बनानी पड़ेगी। मेयर्स के शब्दों में, "तटस्थता-सारणी को वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों की तालिका के रुप में परिभाषित

किया जा सकता है, जिनसे उपभोक्ता को समान कुल सन्तुष्टि प्राप्त होती है।" निम्न तटस्थता-तालिका में नीबुओं और नारंगियों के ऐसे वैकल्पिक संयोग दर्शाए गए हैं जिनसे उपभोक्ता को समान कुल सन्तुष्टि (कुल उपयोगिता) प्राप्त होती है–

NOTES

संयोग	नींबुओं की संख्या	नारंगियों की संख्या	कुल सन्तुष्टि
पहला	12	1	= x
दूसरा	10	3	= x
तीसरा	8	5	= x
चौथा	5	8	= x
पाँचवाँ	3	12	= x
छठा	1	15	= x

तालिका से स्पष्ट है कि 12 नींबू तथा 1 नारंगी के संयोग से उपभोक्ता को जितनी कुल सन्तुष्टि मिलती है, उतनी ही सन्तुष्टि उसे 1 नींबू और 15 नारंगियों के संयोग से अथवा नींबू और नारंगियों के अन्य संयोगों से मिलती है। फलतः विभिन्न संयोगों के बीच चयन करते समय उपभोक्ता तटस्थता का अनुभव करता है। यदि इन संयोगों से सम्बन्धित बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा खींची जाये, तब हमें 'तटस्थता-वक्र' प्राप्त हो जाता है। उपर्युक्त तटस्था तालिका के आधार पर साथ वाले रेखाचित्र में तटस्थता-वक्र खींचा गया है–

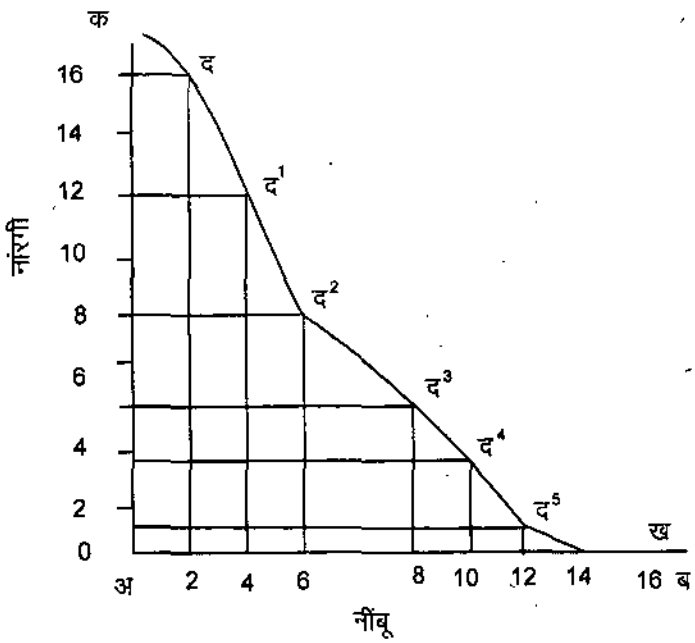

Fig. 29

प्रस्तुत रेखाचित्र (Fig. 29) में क ख उदासीनता वक्र है। यह द, द¹, द², द³, द⁴, द⁵ बिन्दुओं पर नारंगियों और नींबुओं की विभिन्न मात्राओं के ऐसे वैकल्पिक संयोगों को दर्शाता है, जिनसे उपभोक्ता को समान सन्तोष मिलता है। अतः उपभोक्ता विभिन्न संयोगों में से कोई सा संयोग चुनने के प्रति उदासीन रहता है। हम नींबू और नारंगियों के संयोग दर्शाने वाले ऐसे ही अन्य तटस्थता–वक्र भी खींच सकते हैं, जो क ख तटस्थता पर दर्शाए गये सन्तुष्टि के स्तर की तुलना में सन्तुष्टि के ऊँचे या नीचे स्तर का प्रतिनिधित्व करेंगे। जब सन्तुष्टि के विभिन्न स्तर दर्शाने वाले तटस्थता-वक्रों को एक ही रेखाचित्र में खींचा जाता है तब वह 'तटस्थता-मानचित्र' कहलाता है।

NOTES

उदासीनता वक्र विश्लेषण की मान्यतायें

उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करने वाला उदासीनता-वक्र विश्लेषण निम्न मान्यताओं पर आधारित है –

1. उपभोक्ता विवेकपूर्ण ढंग से आचरण करता है अर्थात् वह सीमित आय के व्यय से अधिकतम संतुष्टि प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहता है।
2. वस्तु की सभी इकाइयाँ गुण एवं परिणाम की दृष्टि से एक समान हैं तथा उनमें विभाज्यशीलता का गुण विद्यमान है।
3. उपभोक्ता का 'उदासीनता मानचित्र' होता है, जो दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों हेतु उपभोक्ता का वरीयता क्रम दर्शाता है। यह वरीयता क्रम समूचे विश्लेषण के अन्तर्गत एक समान रहता है।
4. उपभोक्ता के पास द्रव्य अर्थात् आय की निश्चित मात्रा है, जिसे यदि वह एक वस्तु पर खर्च नही करता तब दूसरी वस्तु पर अवश्य खर्च करेगा।
5. उपभोक्ता को प्रत्येक वस्तु की कीमत का ज्ञान है।
6. वस्तुओं की सभी कीमतें स्थिर हैं तथा उपभोक्ता द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तु को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं के लिये 'मुद्रा' क्रय शक्ति के रुप में दर्शायी जा सकती है।

उदासीनता वक्रों के लक्षण अथवा विशेषतायें

उदासीनता वक्रों की प्रमुख विशेषतायें या गुण निम्नलिखित है –

1. ऋणात्मक ढाल – उदासीनता-वक्र बायें से दायें नीचे ओर गिरते हुए होते हैं अर्थात् उनका ढाल ऋणात्मक (Negative Slope) होता है। पिछले रेखाचित्र (Fig. 29) से स्पष्ट है कि जब उपभोक्ता क ख उदासीनता वक्र पर स्थित द बिन्दु से द' बिन्दु की ओर बढ़ाता है, तब उसे नींबू का उपभोग बढ़ाने के लिये नारंगी का उपभोग घटाना पड़ता है।

नारंगियों का उपभोग घटाने से सन्तुष्टि की जो हानि होती है, वह नींबू की उपभोग वृद्धि से प्राप्त अतिरिक्त सन्तुष्टि द्वारा पूरी हो जाती है। इसीलिये उदासीनता-वक्र का ढाल सदैव ऋणात्मक होता है।

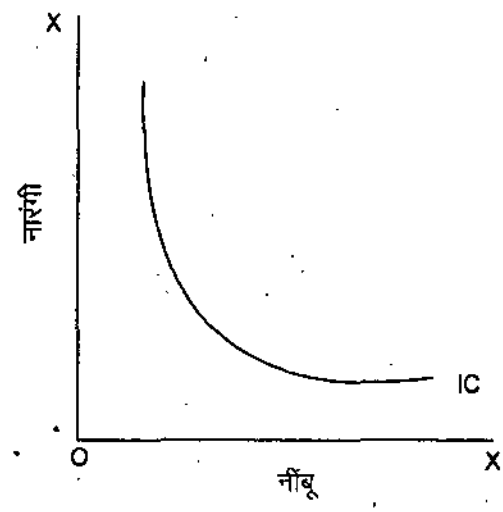

Fig. 30

NOTES

2. मूलबिन्दु की ओर उन्नतोदर – उदासीनता-वक्र का बायाँ भाग सापेक्षतः चालू और दायाँ भाग सापेक्षतः सरलतम होता है अर्थात् तटस्थता वक्र मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर (Convex to the Origin) होते हैं। यह विशेषता 'प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर के सिद्धान्त' पर आधारित है। जब उपभोक्ता एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपभोग बढाता है, तब प्रतिस्थापन की सीमान्त दर क्रमशः घटती जाती है। इसीलिये उदासीनता-वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होते है।

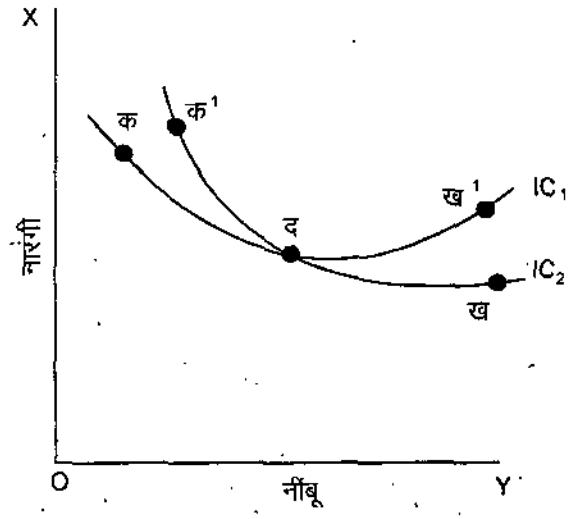

Fig. 31

3. उदासीनता वक्र एक दूसरे को नहीं काटते – तटस्थता मानचित्र पर खींचे गये विभिन्न वक्र सन्तुष्टि के भिन्न-भिन्न स्तर दर्शाते हैं। इसीलिये उदासीनता-वक्र एक दूसरे को कभी नही काटते। प्रस्तुत रेखाचित्र में क ख उदासीनता वक्र की तुलना में क' ख' उदासीनता-वक्र उपभोक्ता को मिलने वाले ऊँचे सन्तोष का प्रतीक है। ये दोनों वक्र परस्पर द बिन्दु पर स्पर्श करते हैं जिसका अर्थ यह है कि द बिन्दु पर उपभोक्ता को दोनों उदासीनता वक्रों के समान सन्तुष्टि मिलती है। यह पूर्णतया असम्भव है।

4. उदासीनता वक्र का एक दूसरे के समान्तर होना आवश्यक नही है – यद्यपि तटस्थता वक्रों का ढाल सामान्यतः ऋणात्मक होता है, किन्तु उनका एक दूसरे के समान्तर होना आवश्यक नहीं है। इसके दो कारण है–

1. तटस्थता वक्र तुष्टिगुण की संख्यात्मक माप के बजाय क्रम सूचक माप पर आधारित होते है।
2. विभिन्न तटस्थता सारणियों में प्रतिस्थापन की सीमान्त दर एक समान नही होती।

5. उदासीनता वक्र का स्वरुप गोलाकार हो सकता है – यदि किसी वस्तु का उपभोग असीमित मात्रा में किया जा सके तथा एक सीमा (पूर्ण तृप्ति का बिन्दु) के पश्चात् उपभोक्ता को ऋणात्मक उपयोगिता (या अनुपयोगिता) प्राप्त होने लगे, तब उपभोक्ता को अमुक वस्तु से सम्भावित अनुपयोगिता की पूर्ति दूसरी वस्तु की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा के उपयोग द्वारा करनी पड़ती है। ऐसी स्थिति में तटस्थता वक्र का स्वरुप गोलाकार होता है।

6. मूल बिन्दु से दूरी के अनुसार सन्तुष्टि का स्तर – तटस्थता मानचित्र पर मूल बिन्दु से समीप का वक्र सन्तुष्टि के निम्न स्तर का तथा उससे स्थित वक्र सन्तुष्टि के उच्च स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं। दायीं ओर स्थित प्रत्येक उदासीनता वक्र मूल अपने पूर्ववर्ती उदासीनता वक्र से सन्तुष्टि के उच्च स्तर का द्योतक होता है।

NOTES

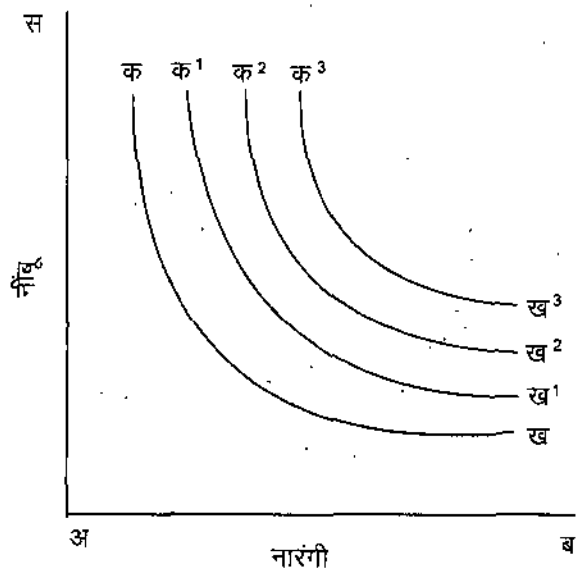

Fig. 32

(Fig. 32) में क³ ख³ उदासीनता वक्र मूल बिन्दु (अ) से सर्वाधिक दूरी पर होने के कारण दो वस्तुओं के संयोग से उपभोक्ता को मिलने वाली अधिकतम सन्तुष्टि का प्रतीक है। इसके विपरीत क ख उदासीनता वक्र मूल बिन्दु के सर्वाधिक समीप होने के कारण दो वस्तुओं के संयोग से उपभोक्ता को मिलने वाली सबसे कम सन्तुष्टि का द्योतक है।

निष्कर्ष – उदासीनता वक्र विश्लेषण की आलोचनाओं एवं सीमाओं के बावजूद भी यह विधि आर्थिक विश्लेषण का एक अत्यन्त लोकप्रिय साधन बन गई है। *नारिस* ने *हिक्स* की प्रशंसा करते हुए कहा कि हिक्स ने एक ऐसे अर्थशास्त्र का विकास किया है जो गणनात्मक संख्याओं (Cardinal Numbers) अर्थात् एक, दो, तीन के क्रम के स्थान पर क्रमवाचक (Ordinal Numbers) अर्थात् प्रथम, द्वितीय, तृतीय, आदि पर आधारित है इस दृष्टि से हिक्स ने माँग विश्लेषण को मार्शल के अवास्तविक उपयोगितावाद से मुक्त कर दिया है। इसी प्रकार एडवर्ड नेविन (Edward Nevin) ने लिखा है, "उदासीनता वक्र विश्लेषण सन्तुष्टि के मापनीय तथ्य पर ध्यान दिये बिना उपभोक्ता द्वारा प्रदर्शित पसन्दगी का अध्ययन करता है।" निष्कर्ष के रुप में हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि उदासीनता वक्र विश्लेषण विधि, उपयोगिता विश्लेषण विधि से एकदम नई अथवा सर्वथा भिन्न नहीं है और उसमें भी कई दोष हैं परन्तु फिर भी उदासीनता वक्र विश्लेषण उपयोगिता विश्लेषण पर सुधार है तथा उससे श्रेष्ठ है।

उपभोक्ता व्यवहार से आप क्या समझते हैं ?

सारांश

- 'उपयोगिता' या 'तुष्टिगुण' का अभिप्राय किसी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति से है। यह ऐसा आन्तरिक गुण है, जो किसी व्यक्ति द्वारा इच्छा की जाने वाली सभी वस्तुओं में पाया जाता है।
- किसी दिये गये समय में, दिये हुए मूल्य पर कोई उपभोक्ता, बाजार में किसी वस्तु की जो विभिन्न मात्रायें क्रय करता है उसे उस वस्तु की माँग कहते हैं। माँग के साथ मूल्य का उल्लेख आवश्यक है, बिना मूल्य के उल्लेख के माँग का कोई अर्थ नहीं होता है, इसका कारण स्पष्ट है भिन्न-भिन्न मूल्यों पर किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्रायें माँगी जायेगी तथा मूल्य में परिवर्तन का प्रभाव माँग पर पड़ता है।
- 'माँग की लोच' शब्द का आशय माँग की कीमत लोच से ही लिया जाता है। जब हम वस्तु की कीमत

में परिवर्तन होने के परिणामस्वरुप माँग की मात्रा में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन की माप प्रस्तुत करते है तो उसे माँग की कीमत-लोच कहते हैं।

- 'तटस्थता वक्र' (उदासीनता-वक्र या अनधिमान-वक्र) दो वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगो को दर्शाने वाला पथ है, जिनसे प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि समान रहती है। अतः उपभोक्ता दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों में से कोई एक संयोग चुनने के प्रति तटस्थ रहता है।

NOTES

मूल्यांकन प्रश्न

1. उपयोगिता विश्लेषण को स्पष्ट कीजिए।
2. उपयोगिता किसे कहते हैं ?
3. सीमान्त तथा कुल उपयोगिता को स्पष्ट करें।
4. माँग का नियम से आप क्या समझते हैं ?
5. माँग के नियम के क्या अपवाद हैं ?
6. माँग की लोच से आप क्या समझते हैं ?
7. माँग की कीमत लोच के बारे में लिखें।
8. माँग की प्रतिलोच से आप क्या समझते हैं ?
9. उदासीनता वक्र से आप क्या समझते हैं ?
10. उदासीनता वक्र के स्वभाव के बारे में लिखें।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- प्रेम आहूजा एवं एच. एल. आहूजा : *उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त* ; एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली (हिन्दी एवं अग्रेजी)।
- प्रो. वी. सी. सिन्हा; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; प्रयाग पुस्तक भवन; इलाहाबाद ।
- एस. एन. लाल एवं एस. के. लाल; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; शिव पब्लिशिग हाउस; इलाहाबाद ।
- बी. पी. त्यागी; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; राज पब्लिशिंग हाउस; जयपुर ।
- M.L. Jhingan; *Microeconomic theory*; Vrinds Publication (P) Ltd. Delhi; (Hindi & English).
- अमिताभ तिवारी एवं बद्री विशाल त्रिपाठी; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; किताब महल, इलाहाबाद।
- H.L. Ahhuja *"Principles of Micro-Economics"*, S.Chand & Co. Ltd., New Delhi 2008

NOTES

अध्याय - 3

उत्पादन एवं लागत का सिद्धान्त
(Theory of Production and Cost)

संरचना

3.1 उद्देश्य (Objectives)

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

3.3 उत्पादन प्रकार्य या फलन (The Production Function)

3.4 उत्पादन फलन : सममात्रा – समलागत सिद्धान्त (Production Function : The Isoquant - Isocost Approach)

— समोत्पाद वक्रों की विशेषताएं

3.5 समोत्पादक वक्र तथा सर्वोत्तम साधन संयोग

— समलागत वक्र (Isocost Curves)

3.6 तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर का नियम (The Principle of Marginal Rate of Technical Substitution)

— साधन स्थानापन्नता की लोच (Elasticity of Substitution)

3.7 परिवर्तनशील अनुपातों का नियम (The Law of Variable Proportions)

— पैमाने के प्रतिफल के नियम (The Laws of Returns of Scale)

3.8 लागतों की प्रकृति तथा लोच (The Nature of Costs and Cost Elasticity)

3.9 लागतों का परंपरागत सिद्धांत (The Traditional Theory of Costs)

— फर्म के अल्पकालीन लागत वक्र (Firm's Short-Run Costs Curves)

— फर्म के दीर्घकालीन लागत वक्र (Firm's Long-Run Cost Curves)

3.10 लागतों का आधुनिक सिद्धांत (The Modern Theory of Costs)

3.11 लागतों की लोच (Elasticity of Costs)

- सारांश
- मूल्यांकन प्रश्न
- सन्दर्भ ग्रन्थ

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात्, विधार्थी योग्य होंगे :

- उत्पादन फलन का अर्थ एवं परिभाषा समझने हेतु।
- उत्पत्ति के नियम का वर्णन करने हेतु।
- उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण हेतु।
- उत्पादन लागत का ज्ञान प्राप्त करने हेतु।
- लागत के विश्लेषण की जानकारी हेतु।

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

उत्पादन प्रकार्य आगतों (Input) एवं निर्गतों (Output) की मात्राओं के फलनात्मक संबध को व्यक्त करता है। यह बताता है कि समय की एक निश्चित अवधि में आगतों के परिवर्तन से निर्गतों में किस प्रकार और *कितनी मात्रा में परिवर्तन होता है।*

इस अध्याय में उत्पादन के निर्णयन नियोजन, विवरण आदि का ज्ञान कराना है। इसके अतिरिक्त इसका मुख्य उद्देश्य उत्पादन किस स्तर पर किया जाये और कुल आय में वृद्धि कैसे की जाय।

3.3 उत्पादन प्रकार्य या फलन (The Production Function)

सैम्युलसन के अनुसार– "उत्पादन फलन वह प्राविधिक संबध है जो यह बताता है कि पड़तों या आगतों के प्रत्येक विशेष समूह द्वारा कितना उत्पादन किया जा सकता है। यह किसी दी हुई प्राविधिक ज्ञान की स्थिति के लिये परिभाषित या संबंधित होता है।"

उत्पादन प्रकार्य को गणितीय समीकरण के रूप में व्यक्त किया जा सकता है :

आश्रित चर = फलन (स्वतंत्र चर/चरों)

$$P = f(T)$$

P, T का फलन है।

P एक आश्रित चर तथा T एक स्वतन्त्र चर है।

उत्पादन के साधनों के मूल्य तथा उत्पादों के मूल्य को उत्पादन फलन में सम्मिलित नहीं किया जाता। यदि श्रम को L, पूँजी को K, तकनीकी को T, साहसी को E तथा उत्पादन को P से व्यक्त किया जाये तो हम उत्पादन फलन को गणितीय रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

$$P = f(L, K, T, E)$$

समीकरण में P (उत्पादन) निर्भर है L,K,T,E पर, अर्थात निर्गतों की P मात्रा आगतों की L,K,T,E मात्रा पर निर्भर है। T पर बार का तात्पर्य है उत्पादन करते समय तकनीक स्थिर रहेगी। *फलनों को समझने के* लिये दो भागों में बाँटा गया है, प्रथम, सामान्य मांग फलन और द्वितीय, विशिष्ट मांग फलन। सामान्य मांग फलन हमें वस्तु की मांग को प्रभावित करने वाले तत्वों के बारे में बताता है। वहीं दूसरी ओर विशिष्ट मांग फलन मांग और उनको निर्धारित करने वाले तत्वों के आपसी सम्बन्ध के बारे में जानकारी देता है। विशिष्ट मांग फलन द्वारा हम स्वतन्त्र एवं आश्रित चरों के आपसी सम्बन्धों को परिणात्मक रूप में व्यक्त करते हैं।

उत्पादन प्रकार्य या फलन की मान्यतायें (Assumptions of Production Function)

उत्पादन फलन की निम्नलिखित मान्यतायों पर आधारित है –

(1) इसमें उत्पादन की तकनीक अपरिवर्तित है।

(2) उत्पादन फलन की यह भी मान्यता निहित है कि दी हुई उत्पादन की तकनीक के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों का कुशलतम प्रयोग होता है।

(3) उत्पादन के साधनों के मूल्य स्थिर हैं।

(4) एक उत्पादन फलन केवल एक निश्चित समय के लिये सत्य होता है। अन्य समयों के लिये नहीं होगा।

उत्पादन फलन की विशेषतायें (Characteristics of Production Function)

उत्पादन फलन की निम्नलिखित विशेषतायें हैं –

(1) उत्पादन फलन का संबंध एक निश्चित समय से होता है इसलिये इसे प्रति इकाई समय के आधार पर ही परिभाषित किया जाता है।

NOTES

(2) उत्पादन फलन कीमतों से स्वतन्त्र होता है।

(3) उत्पादन फलन को गणितीय रूप में ही व्यक्त किया जाता है और उससे सम्बन्ध चरों को आगतों एवं निर्गतों के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। उत्पादन को आश्रित चर तथा साधनों की मात्राओं को स्वतन्त्र चर कहा जाता है।

(4) उत्पादन के साधनों की प्रकृति से ही उत्पादन फलन का आकार निर्धारित होता है।

(5) उत्पादन फलन एक इंजीनियरिंग अवधारणा है।

(6) उत्पादन तकनीक में परिवर्तन होने पर उसका उत्पादन फलन भी बदल जाता है।

उत्पादन की तकनीकी अवस्थाओं द्वारा निर्धारित उत्पादन फलन दो प्रकार का होता है, जिसे समय के आधार पर बांटा गया है। प्रथम, अल्पकालीन उत्पादन फलन एवं द्वितीय, दीर्घकालीन उत्पादन फलन ।

3.4 उत्पादन फलन : सममात्रा – समलागत सिद्धान्त (Production Function : The Isoquant - Isocost Approach)

दो परिवर्ती आगतो सहित उत्पादन–फलन को समोत्पाद वक्रों के संभावित संयोगो द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है। इन्हें सममात्रा वक्र अथवा उत्पादन उदासीनता वक्र भी कहा जाता है। लेकिन हम तो इन्हें समोत्पादन वक्र कहकर ही सम्बोधित करेंगे।

कीरस्टेड के अनुसार, "समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन सम्भावित संयोगों को बताती है जोकि एक समान कुल उत्पादन प्रदान करते हैं।"

रेखाकृति द्वारा स्पष्टीकरण

जैसा कि ऊपर बताया गया है, एक निश्चित प्रदा को फर्म द्वारा विभिन्न वैकल्पिक साधनों–संयोगों का प्रयोग करके प्राप्त किया जाता है। आइए, अब हम यह मान लें कि किसी वस्तु की 50 इकाइयों की प्रदा को उत्पन्न करने हेतु X तथा Y के निम्नलिखित वैकल्पित संयागों में से किसी एक का प्रयोग किया जाता है।

सारणी 1

साधन x		साधन y	प्रदा
1.	+	10	50 इकाइयाँ
2.	+	7	50 इकाइयाँ
3.	+	5	50 इकाइयाँ
4.	+	4	50 इकाइयाँ

यदि उपर्युक्त समोत्पाद सूची को हम रेखांकित (*Fig. 1 देखें*) करें तो हमें एक समोत्पाद वक्र प्राप्त होगा। (देखिए, रेखाकृति) X साधन की मात्राओं को X अक्ष के सहारे तथा Y साधन की मात्राओं को Y अक्ष के सहारे व्यक्त किया गया है। AD समोत्पाद वक्र है। यह वक्र उन सभी वैकल्पित साधन–संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे 50 इकाइयों की प्रदा उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, इस वक्र पर स्थित B बिन्दु X साधन की OM मात्रा तथा Y साधन की ON मात्रा को व्यक्त करता है। इस संयोग से 50 इकाई प्रदा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार, AD वक्र पर स्थित C बिन्दु X साधन की OM_1 तथा Y साधन की ON_1 मात्राएँ वयक्त करता है। यह संयोग भी 60 इकाइयों की समान प्रदा उत्पन्न करता है। इस वक्र पर यदि हम कोई अन्य बिन्दु लें तो वह भी दोनों साधनों के एक ऐसे संयोग को व्यक्त करेगा जिससे समान प्रदा उत्पन्न होगी। यही कारण है कि AD वक्र को समोत्पाद वक्र कहा जाता है। यह वक्र दोनों साधनों के उन सभी संयोगों को व्यक्त करता है जो निश्चित प्रावैधिक परिस्थितियों में प्रदा की 50 इकाइयों को उत्पन्न करते हैं। स्मरण रहे, हम यहाँ पर यह मानकर चलते

हैं कि प्रावैधिक एवं उत्पादन सम्बन्धी परिस्थितियाँ यथास्थिर रहती है तथा उन परिस्थितियों के अन्तर्गत विभिन्न साधनों का संयोजन कुशलतम ढंग से किया जाता है। अतः वर्तमान प्रावैधिक परिस्थितियों में समोत्पाद वक्र दोनों साधनों के उन विभिन्न संयागों को प्रदर्शित करता है जिनसे एक समान निश्चित प्रदा उत्पन्न होती है।

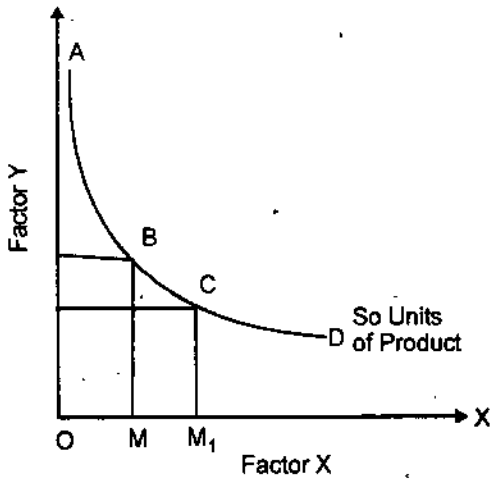

Fig. 1.

समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में अद्भुत समानता पाई जाती है। समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन सभी संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे प्रदा उत्पन्न होती है। ठीक उसी प्रकार उदासीनता वक्र दो वस्तुओं के उन सभी संयागों को व्यक्त करता है जिनसे उपभोक्ता को एक समान–स्तरीय सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

लेकिन समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में दो महत्त्वपूर्ण अन्तर भी पाये जाते हैं। प्रथम, समोत्पाद वक्रों को उत्पादन की इकाइयों की संख्या के रूप में व्यक्त किया जा सकता है जबकी उदासीनता वक्रों को इस प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता। कठिनाई यह है कि उदासीनता-वक्रों को व्यक्त करने हेतु इकाइयाँ ही उपलब्ध नहीं है। किसी समरूप वस्तु के उत्पादन को लीटरों, मीटरों, मीट्रिक टनों, कुन्तलों एवं किलोग्रामों जैसी भौतिक इकाइयों में व्यक्त किया जा सकता है लेकिन उपभोक्ता द्वारा प्राप्त सन्तुष्टि को मापने हेतु भौतिक इकाइयों का हमारे पास पूर्ण अभाव है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता की सन्तुष्टि को मापने के लिए हमारे पास उदासीनता वक्रों को हम IC_1, IC_2, IC_3 इत्यादि जैसे अनिश्चित एवं सामान्य संख्याओं द्वारा चिन्हित करते हैं। इस दृष्टिकोण से समोत्पाद वक्र उदासीनता वक्रों की तुलना में श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि समोत्पाद वक्र हमारे समक्ष मात्राएँ प्रस्तुत करते हैं जबकि उदासीनता वक्र ऐसा नही करते। दूसरे, यदि हम निम्नतर तथा उच्चतर समोत्पाद वक्र खींचे अथवा यदि हम समोत्पाद मानचित्र का निर्माण करें तो हम सरलता से कह सकते हैं कि एक समोत्पाद वक्र दूसरे समोत्पाद वक्र की तुलना में कितनी अधिक अथवा कितनी कम मात्रा को व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ, इस रेखाकृति में दूसरा समोत्पाद वक्र 100 इकाइयों की उपज को व्यक्त करता है। यह उपज प्रथम समोत्पाद वक्र द्वारा निरूपित उपज से 50 इकाइयाँ अधिक है।

इसी प्रकार, तीसरा समोत्पाद वक्र 150 इकाइयाँ उपज प्रकट करता है। यह दूसरे समोत्पाद वक्र द्वारा व्यक्त उपज से 50 इकाइयाँ अधिक है (दूसरा समोत्पाद वक्र 100 इकाइयाँ उपज को ही निरूपित करता है।) अतः समोत्पाद मानचित्र की सहायता से हम विभिन्न वक्रों से सम्बन्धित उपजों की भौतिक मात्राओं की माप करते हैं। इसी प्रकार, समोत्पाद मानचित्र में स्थित विभिन्न बिन्दुओं द्वारा निरूपित भौतिक उपज की मात्राओं की तुलना करना भी सम्भव हो जाता है लेकिन उपभोक्ता के उदासीनता-मानचित्र के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उदासीनता मानचित्र में स्थित एक बिन्दु द्वारा व्यक्त सन्तुष्टि दूसरे बिन्दु द्वारा निरूपित सन्तुष्टि से कितना अधिक अथवा कम

NOTES

है, यह, सही-सही बताना हमारे लिए सम्भव नहीं है क्योंकि सन्तुष्टि को भौतिक इकाइयों के रूप में मापना सम्भव नहीं है। अतः जब हम उदासीनता मानचित्र की तुलना समोत्पाद मानचित्र से करते हैं तो उदासीनता मानचित्र की। यह त्रुटि स्पष्टः दृष्टिगोचर होती है।

समोत्पाद वक्रों की विशेषताएं

अब हम समोत्पाद वक्रों की विशेषताओं पर विचार करेंगे –

1. समोत्पाद वक्र दायीं ओर नीचे झुकते हैं – जैसा कि ऊपर बताया गया है, समोत्पाद वक्रों एवं उदासीनता वक्रों में कई समरूपताएँ पाई जाती हैं। उदासीनता वक्रों की भाँति समोत्पाद वक्र भी दायीं ओर नीचे झुकते हैं। यदि समोत्पाद वक्र दायीं ओर नीचे न झुकते तो वे बायीं ओर ऊपर उठते अथवा क्षितिजीय होते। यदि कोई समोत्पाद वक्र दायीं ओर ऊपर उठता है, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि X तथा Y के दोनों साधनों के बढ़ने अथवा घटने से उत्पादन की मात्रा पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् उत्पादन की मात्रा स्थिर ही रहती है। दूसरे शब्दों में, X तथा Y की अधिक मात्राओं वाला संयोग X एवं Y की कम मात्राओं वाले संयोग दोनों समान उपज प्रदान करते हैं। वास्तव में, यह असंगत ही नहीं, बल्कि मूर्खतापूर्ण बात प्रतीत होती है। जब दोनो साधनों की अधिक अथवा कम मात्राओं का प्रयोग किया जाता है तो दोनों स्थितियों में उपज एक समान नहीं हो सकती। यह बात रेखाकृति से स्पष्ट हो जाती है। (*Fig. 2 देखें*)

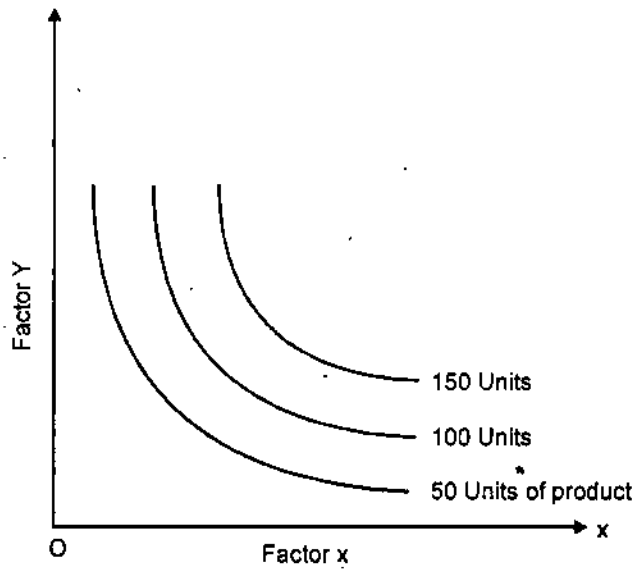

Fig. 2

इस रेखाकृति में ऊपर उठते हुए समोत्पाद वक्र पर हम P बिन्दु को लेते है। यह बिन्दु X की OM तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को व्यक्त करता है। इसी प्रकार, उसी वक्र पर P_1 बिन्दु X की OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राओं के संयोग को प्रकट करता है। चूंकि P तथा P_1 दोनों बिन्दु उसी वक्र पर स्थित है, अतः X तथा Y के दोनों संयागों से समान उपज प्राप्त होनी चाहिए। लेकिन क्या इन दोनों संयोगो द्वारा समान उपज प्रदान करना सम्भव है? स्पष्टतः नहीं। (*Fig. 3 देखें*)

P_1 बिन्दु द्वारा निरूपित X की OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राओं वाला संयोग P बिन्दु पर व्यक्त X की OM तथा Y की ON मात्राओं वाले संयोग से निश्चिय ही अधिक उपज प्रदान करता है। अतः यह कहना कि समोत्पाद वक्र दायीं ओर ऊपर उठता है, वास्तव में निरर्थक ही है। इसी प्रकार यह कहना कि समोत्पाद वक्र क्षितिजीय होता है तार्किक अनर्गलता के सिवाय कुछ नहीं है। इस बात को रेखाकृति में स्पष्ट किया गया है।

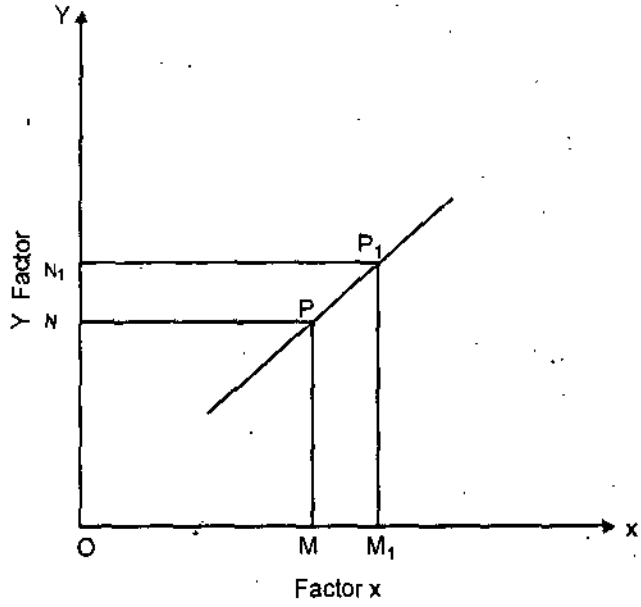

Fig. 3

P बिन्दु X की OM एवं Y की ON मात्राओं के संयोग को प्रदर्शित करता है। उसी वक्र पर स्थित P_1 बिन्दु X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को प्रकट करता है। चूंकि P तथा P_1 बिन्दु दोनों ही उसी समोत्पाद वक्र पर स्थित हैं अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि X तथा Y के दोनों संयोग समान उपज प्रदान करते हैं। लेकिन क्या दोनों संयागों के लिए समान उपज प्रदान करना सम्भव है? क्या P_1 बिन्दु वाला संयोग (अर्थात् X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं वाला संयोग) P बिन्दु वाले संयोग (अर्थात् X की OM तथा Y की ON मात्राओं के संयोग) से अधिक उपज प्रदान नहीं करेगा? स्पष्टतः प्रथमोक्त संयोग पश्चादुक्त संयोग से अधिक उपज प्रदान करेगा।

दूसरे शब्दों में X की OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राओं वाला संयोग X की OM तथा Y की ON मात्राओं वाले संयोग से अधिक उपज देगा क्योंकि प्रथमोक्त संयोग में पश्चादुक्त संयोग की अपेक्षा MM_1 की सीमा तक X की मात्रा अधिक है। इसके अलावा, प्रतिफल के नियमों के अनुसार जब X जैसे 'परिवर्ती' साधन की अधिकाधिक इकाइयों को Y जैसे 'स्थिर' साधन से संयोजित किया जाता है-तो जनित उपज पहले की अपेक्षा अधिक अथवा कम हो सकती है। यदि वर्धमान प्रतिफल नियम कार्यशील है तो उपज पहले की अपेक्षा अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि ह्रासमान प्रतिफल नियम क्रियाशील होता है तो उपज पहले की अपेक्षा कम होगी। उपज स्थिर नहीं रह सकती। चूंकि उपयुक्त रेखाकृति में P तथा P_1 बिन्दुओं द्वारा निरूपित साधनों के दोनों संयोग समान उपज प्रदान नहीं करते, इसलिए समोत्पाद वक्र क्षितिजीय नहीं हो सकता। उपयुक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समोत्पाद वक्र न तो दायीं ओर ऊपर उठता है और न ही यह क्षितिजीय होता है। अतः समोत्पाद वक्र दायीं ओर नीचे गिरता है। जैसे कि एक साधन की मात्रा घटती है, दूसरे साधन की मात्रा बढ़ जाती है। जैसा कि रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है, इस वक्र पर स्थित X तथा Y के दोनों साधनों के सभी संयोगों से समान उपज प्राप्त होती है।

NOTES

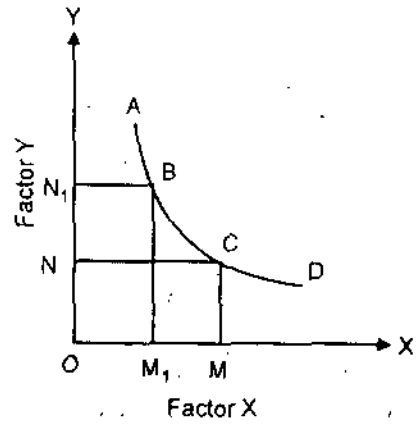

Fig. 4

जैसा कि रेखाकृति (*Fig. 4*) में प्रदर्शित किया गया है, X की OM तथा Y की ON मात्राओं वाला संयोग भी ठीक उतनी ही उपज प्रदान करता है जितनी X की OM_1 तथा Y की ON_1 मात्राओं वाला संयोग देता है। जब हम समोत्पाद वक्र के सहारे B से C की ओर जाते हैं तो Y की मात्रा घटती है जबकि X की मात्रा बढ़ती जाती है। परिणामतः उपज समान ही रहती है।

2. समोत्पाद वक्र उद्गम-बिन्दु की ओर उन्नतोदर (convex) होते हैं – इसका अभिप्राय यह है कि समोत्पाद वक्र के सहारे एक साधन का दूसरे साधन के रूप में सीमान्त महत्त्व अथवा उनकी सीमान्त प्रतिस्थापन-दर घटती चली जाती है। जब कोई व्यक्ति विभिन्न संयोगों में एक दिए हुए उदासीनता वक्र के सहारे दो वस्तुओं का उपभोग करता है तो एक वस्तु की दूसरी वस्तु के रूप में सीमान्त महत्त्व अथवा सीमान्त प्रतिस्थापन दर वक्र के साथ घटती चली जाती है। X वस्तु के Y वस्तु के रूप में सीमान्त महत्त्व से अभिप्राय Y वस्तु की उस मात्रा से है जिसे X वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के लिए छोड़ा जा सकता है। उदासीनता वक्र के साहारे X वस्तु का Y वस्तु के रूप में सीमान्त महत्त्व घटता जाता है (अथवा Y की X द्वारा सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती जाती है) इसे रेखाकृति द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

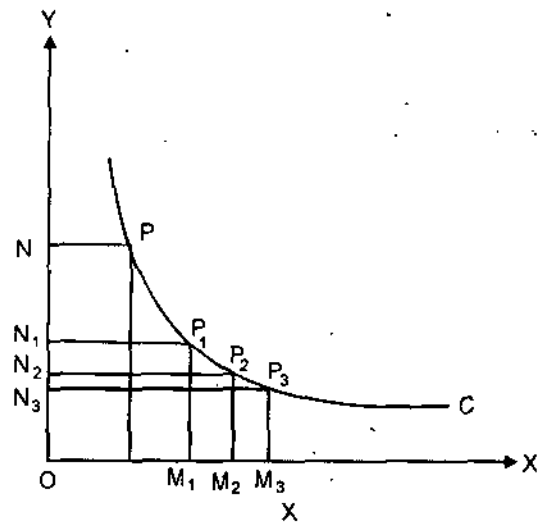

Fig. 5

इस रेखाकृति (*Fig. 5 देखें*) में हम यह मान लेते हैं कि IC वक्र पर स्थित P बिन्दु पर उपभोक्ता X की OM तथा Y की ON मात्राएँ खरीदता है। X की एक और इकाई (अर्थात् MM_1) प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को Y वस्तु की NN_1 मात्रा का परित्याग करना पड़ेगा। X की अतिरिक्त इकाई (अर्थात् M_1M_2)

को प्राप्त करने हेतु उपभोक्ता को अब Y वस्तु की N_1N_2 मात्रा का परित्याग करना पड़ेगा। इसी प्रकार X की एक अन्य इकाई (अर्थात् M_2M_3) को हासिल करने के लिए उसे Y वस्तु की N_2N_3 मात्रा छोड़नी पड़ेगी। X की MM_1 मात्रा को Y के रूप में सीमान्त महत्त्व Y की NN_1 बराबर है। इसी प्रकार X की M_1M_2 का Y के रूप में सीमान्त महत्त्व Y की N_1N_2 के बराबर है, लेकिन रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि N_1N_2, NN_1 की तुलना में कम है। अतः इसका अभिप्राय यह है कि Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व घट गया है। इसी प्रकार X की M_2M_3 मात्रा का Y के रूप में सीमान्त महत्त्व Y की N_2N_3 के बराबर है। अब N_2N_3, N_1N_2 की तुलना में कम है। इसका अभिप्राय यह है कि Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व और भी घट गया है। अतः जैसे जैसे Y की उत्तरोत्तर कम इकाइयों को छोड़कर X की अधिकाधिक इकाइयों को प्राप्त किया जाता है, वैसे वैसे ही Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व घटता जाता है।

उत्पादन साधनों के बारे में भी ह्रासमान सीमान्त महत्त्व की धारणा सत्य उतरती है। Y साधन के रूप में X साधन की सीमान्त महत्त्व Y की वह मात्रा है जिसका X की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए परित्याग किया जा सकता है। समोत्पाद वक्र के सहारे Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व घटता चला जाता है। इसे भी उपर्युक्त रेखाकृति द्वारा निदर्शित किया जा सकता है। आइए, हम यह मान लें कि उपर्युक्त रेखाकृति में प्रस्तुत IC वक्र वास्तव में, समोत्पाद वक्र है। X साधन X तथा Y साधन Y को व्यक्त करते हैं। जो कुछ हमने उदासीनता वक्र के बारे में कहा है वह समोत्पाद वक्र भी लागू होता है। P बिन्दु पर उत्पादक X की OM तथा Y की ON मात्रा का संयोजन करता है। इस संयोग से उसे 50 इकाइयों के बराबर उपज प्राप्त होती है। अब यदि उत्पादक X साधन की एक और इकाई (अर्थात् MM_1) का उपयोग करना चाहता है लेकिन साथ ही साथ वह उसी समोत्पाद वक्र पर रहना चाहता है लेकिन साथ ही साथ वह उसी समोत्पाद वक्र का रहना भी जारी रखना चाहता है तो उसे Y साधन की NN_1 का परित्याग करना होगा। इस इस प्रकार X की MM_1 मात्रा का सीमान्त महत्त्व Y की NN_1 के बराबर है और X की M_1M_2 की मात्रा का सीमान्त महत्त्व Y की N_1N_2 मात्रा के समान है। Y के रूप में X की सीमान्त महत्त्व स्पष्टः गिर चुका है तथा X की M_2M_3 मात्रा का सीमान्त महत्त्व Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व और भी गिर गया है। अतः X की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए, Y की उत्तरोत्तर कम इकाइयों का परित्याग करना पड़ता है। परिणामतः समोत्पाद वक्र के सहारे-सहारे Y के रूप में X का सीमान्त महत्त्व गिरता चला जाता है। यही कारण है कि समोत्पाद वक्र उद्गम-बिन्दु के प्रति उन्नतोदर होता है।

3. दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक ऊँचे स्तर को निरूपित करता है – जिस प्रकार दायीं ओर स्थिति उदासीनता वक्र अधिक सन्तुष्टि को व्यक्त करता है, ठीक उसी प्रकार दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक ऊँचे स्तर अर्थात् अधिक उत्पादन स्तर को प्रकट करता है। इसे रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है।

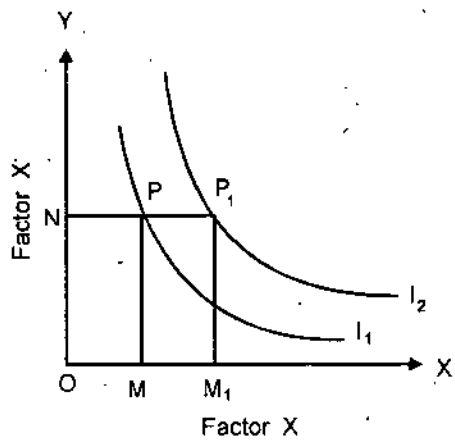

Fig. 6

NOTES

इस रेखाकृति (*Fig. 6 देखें*) में P तथा P_1 बिन्दु क्रमशः I_1 और I_2 समोत्पाद वक्रों पर स्थित है। I_1 वक्र पर स्थित P बिन्दु X की OM तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को व्यक्त करता है। इस संयोग से एक निश्चित उपज प्राप्त होती है। I_2 पर स्थित P_1 बिन्दु X की OM_1 तथा Y की ON मात्राओं के संयोग को निरूपित करता है इस संयोग से प्रथमोक्त संयोग की तुलना में अधिक उपज प्राप्त होगी। P_1 संयोग P की तुलना में X की अधिक मात्रा को निरूपित करता है। P_1 संयोग में X की OM_1 मात्रा है जबकि P संयोग में X की मात्रा केवल OM ही है। चूँकि P_1 संयोग में X की मात्रा अधिक है, अतः P संयोग की तुलना में P_1 संयोग से अधिक उपज प्राप्त होगी, यद्यपि Y की मात्रा दोनों संयोगों में समान ही है (अर्थात् ON है) अतः दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक उपज को निरूपित करता है।

4. समोत्पाद वक्र कभी भी एक दूसरे को नहीं काटते – उदासीनता वक्रों की भांति समोत्पद वक्र कभी भी एक दूसरे को नहीं काट सकते। इसे रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाकृति (*Fig. 7 देखें*) में I_1 तथा I_2 दो उादासीनता वक्र हैं। ये एक दूसरे को काटते हुए दिखाए गए हैं। वास्तव में ऐसा हो नहीं सकता।

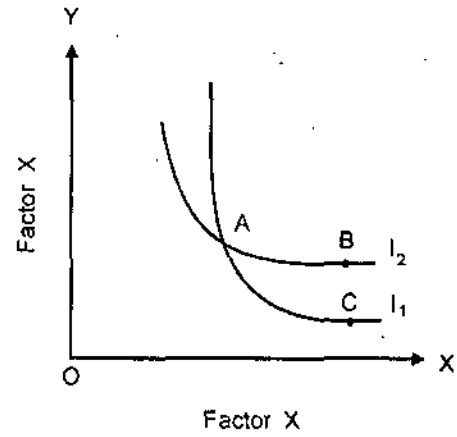

Fig. 7

सच पूछिए तो यह तार्किक अनर्गलता का ही उदाहरण है। B बिन्दु I_2 उदासीनता वक्र पर X तथा Y का एक संयोग निरूपित करता है। इसी प्रकार, C बिन्दु उदासीनता वक्र I_1 पर X तथा Y के अन्य संयोग को व्यक्त करता है। अतः C का संयोग की तुलना में B संयोग उपभोक्ता को अधिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में B संयोग C संयोग की तुलना में बेहतर है। लेकिन A बिन्दु उसी I_2 वक्र पर स्थित है जिस पर B बिन्दु भी है। अतः A संयोग उपभोक्ता के लिए उतना ही अच्छा है जितना B संयोग A इसी प्रकार, A बिन्दु उसी वक्र I_1 पर स्थित है जिस पर C भी है। अतः यह संयोग उतना ही अच्छा है जितना C संयोग A चूँकि A बिन्दु दोनों ही उदासीनता वक्रों पर स्थित है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि B, C के बराबर है अथवा B उतना ही अच्छा है जितना C लेकिन यह वास्तव में एक अयुक्तिक निष्कर्ष ही है। अतः दो उदासीनता वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते। इसी तर्क के आधार पर हम यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि दो समोत्पाद वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते। B बिन्दु समोत्पाद वक्र I_2 पर स्थित है।

इसी प्रकार C बिन्दु समोत्पाद वक्र I_1 पर स्थित है अतः C संयोग की तुलना में B संयोग अधिक उत्पादक है। लेकिन A संयोग भी उतना ही उत्पादक है जितना कि B संयोग क्योंकि ये दोनों ही संयोग समोतपाद वक्र I_2 पर स्थित हैं। इसी प्रकार A संयोग भी उतना ही उत्पादक है जितना कि C संयोग क्योंकि ये दोनों ही संयोग I_1 समोत्पाद वक्र पर स्थित है। चूंकि A दोनों में ही उभयनिष्ठ है, अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि C संयोग भी उतना ही उत्पादक है जितना कि B संयोग। लेकिन यह निष्कर्ष स्पष्टतः असंगत है। यह निष्कर्ष उपर्युक्त विशेषता नं. 3 से मेल नहीं खाता कि दायीं ओर स्थित समोत्पाद वक्र अधिक उत्पादन को निरूपित करता है। अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि समोत्पाद वक्र एक दूसरे को नहीं काट सकते।

5. समोत्पाद वक्र रिज रेखाओं (अथवा मेड़ रेखाओं) को अंकित करने में सहायक होते हैं। – समोत्पाद वक्रों की एक अन्य विशेषता यह है कि ये वक्र व्यावसायिक फर्म के लिए उपयुक्त उत्पादन क्षेत्र का सीमांकन करते हैं अर्थात् ये वक्र फर्म को यह बताते हैं कि किन सीमाओं के बीच उत्पादन करना फर्म के लिए लाभदायक होगा। जैसा कि विदित है, ये वक्र पीछे की ओर झुकते हैं। और इनके दोनों सिरे ऊपर की ओर चढ़ते हैं। इसे निम्नांकित रेखाकृति द्वारा व्यक्त किया गया है।

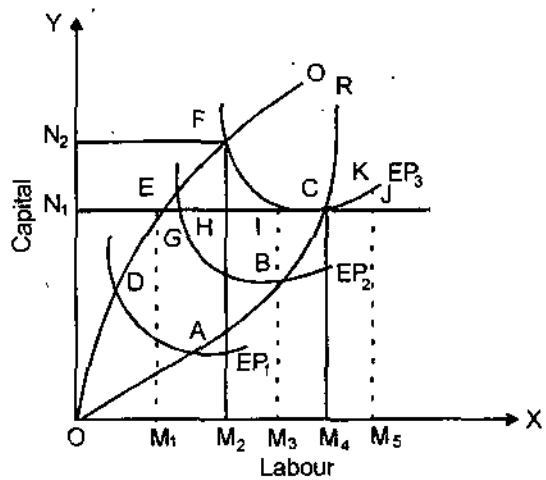

Fig. 8

इस रेखाकृति (*Fig. 8 देखें*) में EP_1, EP_2 तथा EP_3 नामक तीन समोत्पाद वक्र दिखाए गए हैं। ये सभी पीछे की ओर झुकते हैं और इनके दोनों सिरे ऊपर की ओर चढ़ते हैं। EP_1 दो बिन्दुओं D तथा A पर पीछे की ओर झुकता है। इसी प्रकार, EP_2 एवं EP_3 वक्र E, B तथा F, C बिन्दुओं पर पीछे झुकते हैं। A, B और C बिन्दुओं को जोड़ने से OR रेखा प्राप्त होती है। इसी प्रकार D, E तथा F को जोड़ने से OQ रेखा प्राप्त होती है। प्राविधिक भाषा में OR तथा OQ रेखाओं को रिज रेखाएँ कहा जाता है। ये दोनों रेखाएँ उस क्षेत्र को सीमांकित करती हैं जिसके भीतर रहकर फर्म लाभदायक उत्पादन कर सकती है। समोत्पादक वनों के वे भाग जो रिज रेखाओं के भीतर आते हैं, लाभदायक उत्पादन के लिए उपयुक्त हैं लेकिन जो भाग रिज रेखाओं के बाहर पड़ते हैं, वे लाभदायक उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं है।

रेखाकृति में श्रम की विभिन्न मात्राओं को X अक्ष के सहारे व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार पूँजी की विभिन्न मात्राओं को Y अक्ष के साथ-साथ प्रकट किया गया है। श्रम की OM_4 तथा पूँजी की ON_1 मात्राओं के संयोग से एक ऐसा उत्पादन होता है जिसे EP_3 वक्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि फर्म EP_3 वक्र के सहारे नीचे की ओर प्रस्थान करती है तो वह पूँजी का श्रम से अधिकाधिक प्रतिस्थापन करती चली जाएगी अर्थात् वह श्रम का अधिक और पूँजी का कम प्रयोग करेगी, यहाँ तक कि वह EP_3 वक्र पर स्थित C बिन्दु पर पहुँच जाएगी। C बिन्दु श्रम का OM_4 तथा पूँजी की ON_1 मात्राओं को व्यक्त करता है। चूँकि फर्म EP_3 वक्र पर ही रहती है, अतः उत्पादन स्थिर रहता है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अब यदि पूँजी की मात्रा को ON_1 पर स्थिर रखते हुए हम श्रम की मात्रा को C बिन्दु के आगे बढ़ाते हैं तो कुल उत्पादन में कमी हो जाएगी। उदाहरणार्थ, यदि श्रम की मात्रा को OM_5 तक बढ़ा दिया जाता है तो फर्म J बिन्दु पर पहुँच जाएगी। J बिन्दु EP_3 वक्र से नीचे स्थित हैं यह इस बात का प्रतीक है कि J बिन्दु पर उत्पादन में गिरावट हुई है। लेकिन प्रश्न यह है कि *उत्पादन में क्यों गिरावट आई? इसका कारण यह है कि* C बिन्दु के दायीं ओर श्रम की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है। परिणामतः C बिन्दु के दायीं ओर श्रम की अतिरिक्त मात्राओं को लगाने से उत्पादन में

NOTES

ह्रास होता है दूसरे शब्दों में C बिन्दु पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य हैं लेकिन C बिन्दु के बायीं ओर श्रम की सीमान्त उत्पादकता धनात्मक है क्योंकि पूँजी को ON_1 पर स्थिर रखते हुए यदि हम C बिन्दु के बायीं ओर श्रम की मात्राओं को बढ़ाते जाएँ तो उत्पादन में वृद्धि होती चली जाएगी। इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि C बिन्दु के बायीं ओर श्रम की सीमान्त उत्पादकता धनात्मक होती है। मान लीजिए कि फर्म G बिन्दु पर है। इस बिन्दु पर फर्म OM_1 श्रम और ON_1 पूँजी लगा रही है। G बिन्दु पर होने वाला उत्पादन EP_1 वक्र द्वारा व्यक्त उत्पादन से अधिक होगा। अब मान लीजिए कि फर्म G से चलकर H बिन्दु पर पहुँचती है। H बिन्दु पर फर्म श्रम की मात्रा को OM_1 से बढ़ाकर OM_2 कर देती है यद्यपि पूँजी की मात्रा ON_1 पर ही स्थिर रहती है। यदि H बिन्दु में से गुजरता हुआ एक नया समोत्पाद वक्र बनाया जाए तो वह एक ऐसे उत्पादन को प्रकट करेगा जो EP_2 वक्र द्वारा व्यक्त उत्पादन से अधिक होगा। इसी प्रकार, यदि फर्म H से चलकर I बिन्दु पर पहुंचती है तो पहले की अपेक्षा उसका उत्पादन बढ़ जाएगा। स्मरणीय बात यह है कि C बिन्दु पर श्रम की सीमान्त उत्पादक शून्य है, C के दायीं ओर यह ऋणात्मक है और C के बायीं ओर यह धनात्मक है। अब यदि फर्म C बिन्दु के दायीं ओर OM_5 तक श्रम की मात्रा को बढ़ती है यद्यपि पूँजी की मात्रा ON_1 पर ही स्थिर रहती है, तो वह J बिन्दु पर पहुँच जाएगी। J बिन्दु EP_3 वक्र से नीचे स्थित है। अतः यह बिन्दु कम उत्पादन को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में श्रम, की अधिक मात्रा के बावजूद उत्पादन में कमी हो जाती है। यदि फर्म उत्पादन की इस गिरावट को रोकना चाहती है अथवा C बिन्दु के दायीं ओर उत्पादन को पुराने स्तर पर ही बनाए रखना चाहती है तो उसे दोनों साधनों (अर्थात् श्रम एवं पूँजी) की अतिरिक्त मात्राओं को लगाना होगा। उदाहरणार्थ, यदि फर्म EP_3 वक्र पर स्थित K बिन्दु पर पहुँचना चाहती है तो उसे श्रम की OM_5 और पूँजी की ON_1 से अधिक मात्राओं का प्रयोग करना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में C बिन्दु के दायीं ओर उत्पादन के पुराने स्तर को बनाए रखने के लिए फर्म को दोनों साधनों की अधिक मात्राओं का प्रयोग करना होगा। अतः C बिन्दु के दायीं ओर जाना फर्म के लिए गैर-आर्थिक (अथवा हानिकारक) होगा। वास्तव में C बिन्दु श्रम एवं पूँजी के युक्तिक संयोगों की बाह्य सीमा को व्यक्त करता है क्योंकि इस बिन्दु पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है। C के दायीं ओर गैर आर्थिक उत्पादन का क्षेत्र प्रारंभ हो जाता है। कोई भी फर्म उस क्षेत्र में प्रविष्ट होना पसंद नहीं करेगी।

इसी प्रकार EP_3 वक्र के संदर्भ में F बिन्दु श्रम एवं पूँजी के युक्तिक संयोग की सीमा को व्यक्त करता है क्योंकि इस बिन्दु पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता शून्य के बराबर है। F बिन्दु के बायीं ओर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक है। अतः F बिन्दु के बायीं ओर जाना फर्म के लिए उचित नहीं होगा क्योंकि F बिन्दु के बायीं ओर का क्षेत्र गैर-आर्थिक उत्पादन का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में फर्म को यदि पुराना उत्पादन स्तर बनाए रखना है तो उसे श्रम एवं पूँजी दोनों की अतिरिक्त मात्राओं का प्रयोग करना होगा।

जहाँ तक EP_3 वक्र का सम्बन्ध है, C एवं F बिन्दु आर्थिक उत्पादन के क्षेत्र की बाह्य सीमाओं को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार, E तथा B बिन्दु समोत्पाद वक्र EP_2 की और D एवं A बिन्दु EP_1 वक्र की बाह्य सीमाओं को प्रकट करते हैं। रेखाकृति में दो रिज रेखाओं को दिखाया गया है। ये हैं OR तथा OQ। इन दोनों रेखाओं के बीच स्थित क्षेत्र आर्थिक उत्पादन का क्षेत्र है। लेकिन इन दोनों के बाहर पाया जाने वाला क्षेत्र गैर-आर्थिक है। दूसरे शब्दों में, यह क्षेत्र आर्थिक उत्पादन के लिए उपयुक्त नहीं है।

3.5 समोत्पादक वक्र तथा सर्वोत्तम साधन संयोग

हमने देखा था कि किस प्रकार उदासीनता वक्र उपभोक्ता को दो वस्तुओं का एक ऐसा संयोग प्रदान करने में सहायक होते हैं जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है इसी प्रकार, समोत्पाद वक्र भी उत्पादक को एक ऐसा संयोग देने में सहायक होते है जिससे वह न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार के साधन-संयोग को सर्वोतम अथवा अनुकूलतम संयोग कहा जाता है। वास्तव में, एक निश्चित स्तर के उत्पादन को प्राप्त करने के लिए उत्पादक के समक्ष कई वैकल्पित साधन संयोग होते हैं। लेकिन युक्तिक स्वभाव का संगठनकर्ता उत्पादन को "अनुकूलतम" अथवा "न्यूनतम लागत" संयोग की सहायता से करना चाहेगा। उत्पादक

विभिन्न साधनों का सामंजस्य (मिलन) इस ढंग से करेगा कि उत्पादन चाहे कितना ही हो, लेकिन प्रति इकाई लागत न्यूनतम होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति में समोत्पाद वक्र उत्पाद को बड़ी मूल्यवान सहायता देते हैं। दूसरे शब्दों में समोत्पाद वक्र फर्म को सन्तुलनावस्था प्राप्त करने में ठीक उसी प्रकार सहायक होते हैं। जिस प्रकार उदासीनता वक्र उपभोक्ता को सन्तुलन की प्राप्ति में सहायता देते हैं। सत्य तो यह है कि उत्पादन सिद्धान्त में समोत्पाद वक्रों को बिलकुल वही स्थान प्राप्त है जो उपभोग सिद्धान्त में उदासीनता वक्रों को दिया जाता है।

उपभोक्ता को सन्तुलनावस्था प्राप्त करने हेतु दो उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। *(i)* उदासीनता मानचित्र तथा *(ii)* बजट अथवा कीमत रेखा। ठीक इसी प्रकार सन्तुलनावस्था को प्राप्त करने के लिए एक फर्म को भी दो उपकरणों की जरूरत पड़ती है। *(i)* समोत्पाद मानचित्र तथा *(ii)* सम लागत रेखा। दूसरे शब्दों में दोनों उपकरणों के बिना फर्म अनुकूलन संयोग अथवा न्यूनतम लागत संयोग प्राप्त नहीं कर सकती।

समोत्पाद मानचित्र की व्याख्या ऊपर पहले ही की जा चुकी है। यह मानचित्र वस्तु की विभिन्न मात्राओं का उत्पादन करते हेतु उत्पादक के समक्ष जो विभिन्न तकनीकी संभावनाएँ होती हैं, उनका विस्तृत ब्यौरा प्रस्तुत करता है। यही नहीं, यह मानचित्र एक निश्चित स्तर का उत्पादन करने के लिए विभिन्न वैकल्पिक साधन-संयोगों को भी फर्म के समक्ष प्रस्तुत करता है।

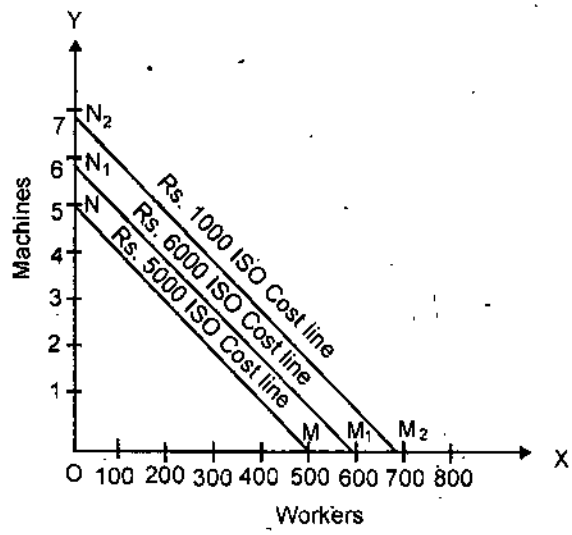

Fig. 9

सम-लागत रेखा की धारणा भी कोई बिलकुल नयी धारणा नहीं है। उत्पादन के सिद्धान्त में इस रेखा को वही स्थान प्राप्त है जो उपभोग सिद्धान्त में बजट रेखा को दिया जाता है। सम-लागत रेखा दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को व्यक्त करती है जिन्हें फर्म एक दी हुई राशि से दी हुई कीमतों पर खरीद सकती है। इस प्रकार सम-लागत रेखा दो बातों को व्यक्त करती है– 1. दोनों साधनों की कीमतें, तथा 2. फर्म द्वारा किया जाने वाला कुल व्यय। अब हम एक काल्पनिक उदाहरण के आधार पर सम लागत रेखा बनाएंगे। आइए, हम मान लें कि फर्म के पास 5000 रुपये की धनराशि है जिसे वह दो साधनों (अर्थात् मशीनों एवं श्रमिकों) पर व्यय करना चाहती है। यह भी मान लीजिए कि एक मशीन की कीमत, 1,000 रुपये है और एक श्रमिक की दैनिक मजदूरी 10 रुपये है। स्पष्टतया, 5,000 रुपये के व्यय से फर्म या तो 5 मशीनें खरीद सकती है और/या OM 500 श्रमिकों को और ON 5 मशीनों को व्यक्त करते है। यदि हम N तथा M बिन्दुओं को जोड़ दें तो हमें NM सम-लागत रेखा प्राप्त होगी। यह NM सम लागत रेखा मशीनों तथा श्रमिकों के उन सभी संयोगों को प्रदर्शित करती है जो फर्म दी हुई कीमतों पर 5,000 रुपये की धनराशि से खरीद सकती है। सम-लागत रेखा सदैव एक सीधी रेखा

NOTES

होती है। यह सीधी सम-लागत रेखा दो बातों को व्यक्त करती है। 1. क्रेता फर्म का सम्बन्धित उत्पादन साधनों की बाजार कीमतों पर कोई नियन्त्रण नहीं है तथा 2. फर्म चाहे दोनों साधनों की कितनी ही इकाइयाँ खरीदे, लेकिन इसका साधनों की कीमतों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (*Fig. 9 देखें*)

अब यदि फर्म अपने व्यय को 5,000 रुपये से बढ़ाकर 6,000 रुपये कर देती है तो सम-लागत रेखा दायीं ओर खिसक जाएगी, बशर्ते दोनों (अर्थात् मशीनों एवं श्रमिकों) की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। नयी सम-लागत रेखा अब N_1M_1 होगी। यदि फर्म के व्यय को और अधिक बढ़ाकर 7,000 रुपये कर दिया जाता है तो सम-लागत रेखा और दायीं ओर खिसक जाएगी, लेकिन शर्त यह है कि दोनों साधनों की कीमतों में कोई परिवर्तन न हो। इस प्रकार, यदि फर्म के व्यय को उत्तरोतर बढ़ाया जाता है तो सम-लागत रेखा बराबर बायीं ओर खिसकती रहेगी। लेकिन यहाँ पर एक महत्त्वपूर्ण बात स्मरणीय है। उपर्युक्त रेखाकृति में प्रदर्शित विभिन्न सम लागत रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर है। इसका कारण यह है कि फर्म के व्यय में वृद्धि के बावजूद दोनों साधनों की कीमतें अपरिवर्तित ही रहती हैं।

सम लागत रेखा की ढाल दो बातों से निर्धारित होती है : 1. फर्म का व्यय, तथा 2. दोनों साधनों (अर्थात् मशीनों एवं श्रमिकों) की कीमतें। यह सम-लागत रेखा श्रम की कीमत (अर्थात् मजदूरी) तथा मशीनों की कीमत के अनुपात को व्यक्त करती है। उपर्युक्त रेखाकृति में सम-लागत रेखा NM की हैं।

अर्थात् मजदूरी तथा P_m मशीनों की कीमत को व्यक्त करता है। यदि दोनों में किसी एक साधन की कीमत में परिवर्तन होता है तो सम-लागत रेखा की ढाल में समानुपातिक परिवर्तन होगा।

अब हम यह बताएँगे कि समोत्पाद वक्रों एवं सम-लागत रेखाओं की सहायता से फर्म किसी प्रकार अनुकूलतम (सर्वोत्तम) साधन-संयोग अथवा न्यूनतम लागत साधन संयोग को प्राप्त करती है। इसे रेखाकृति (*Fig. 10*) में स्पष्ट किया गया है।

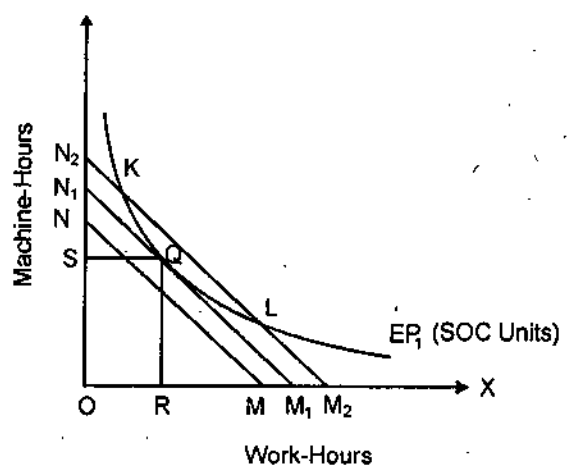

Fig. 10

आइए, हम यह मान लें कि फर्म 500 इकाइयों का उत्पादन करने का निर्णय लेती है। इसे रेखाकृति में समोत्पाद वक्र EP_1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह तो स्वाभाविक ही है कि फर्म इस उत्पादन को न्यूनतम लागत पर करना चाहेगी क्योंकि ऐसा करके ही फर्म अधिकतम लाभ कमा सकती है। दूसरे शब्दों में, इस उत्पादन स्तर को प्राप्त करने हेतु फर्म दोनों साधनों के अनुकूलतम संयोग को प्राप्त करने का प्रयास करेगी। जैसा कि रेखाकृति में दिखाया गया है, 500 इकाइयों के इस उत्पादन को फर्म K, Q, L जैसे किसी भी साधन-संयोग से प्राप्त कर सकती है क्योंकि ये सभी साधन संयोग उसी EP_1 समोत्पाद वक्र पर स्थित है। लेकिन फर्म उस साधन संयोग

का चयन करेगी जिस पर सम-लागत रेखा N_1M_1 समोत्पाद वक्र EP_1 को स्पर्श करती है। इस रेखाकृति में Q साधन संयोग अनुकूलतम अथवा न्यूनतम लागत संयोग है क्योंकि इस संयोग की सहायता से फर्म 500 इकाइयों का उत्पादन न्यूनतम लागत पर कर सकती है। समोत्पाद वक्र EP_1 पर स्थित किसी अन्य बिन्दु (उदाहरणार्थ K तथा L) पर उत्पादन लागत न्यूनतम नहीं हो सकती। ये दोनों ही बिन्दु अधिक ऊँची सम लागत रेखा N_2M_2 पर स्थित है। यदि इन साधन संयोगों से 500 इकाइयों का उत्पादन किया जाता है तो लागतें ऊँची होंगी। अतः फर्म K तथा L साधन संयोगों का चयन नहीं करेगी। Q ही एक ऐसा साधन-संयोग है जो 500 इकाइयों का उत्पादन करने के लिए अनुकूलतम अथवा न्यूनतम लागत–संयोग का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में, 500 इकाइयों का उत्पादन करने के लिए फर्म OR कार्य घण्टों का संयोजन SO मशीनी घण्टों के साथ करती है। जिस बिन्दु पर समोत्पाद वक्र सम लागत रेखा को स्पर्श करता है वही बिन्दु एक निश्चित स्तर का उत्पादन करने के लिए अनुकूलतम अथवा न्यूनतम लागत संयोग का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ स्पर्शिता का अभिप्राय न्यूनतम लागत से है।

अनुकूलतम साधन-संयोग की व्याख्या तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTS) एवं दोनों साधनों के कीमत अनुपात से भी की जा सकती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि किसी विशिष्ट बिन्दु पर समोत्पाद वक्र की ढाल पर बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को भी व्यक्त करती है। इसी प्रकार, किसी विशिष्ट बिन्दु पर सम-लागत रेखा की ढाल दोनों साधनों के कीमत अनुपात को भी प्रकट करती है। फर्म का अनुकूलतम साधन संयोग उस बिन्दु द्वारा व्यक्त किया जाता है जहाँ पर समोत्पाद वक्र एवं सम-लागत रेखा दोनों की ढाल एक समान होती है। इसे ऐसे भी व्यक्त किया जा सकता है कि फर्म का अनुकूलतम संयोग उस बिन्दु पर स्थित होगा जहाँ पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRTS) तथा कीमत-अनुपात एक दूसरे के बराबर होते हैं। K बिन्दु पर फर्म 500 इकाइयों का उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि इस बिन्दु पर मशीनी घण्टों के स्थान पर कार्य घण्टों की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर दोनों साधनों के कीमत अनुपात से अधिक है। K बिन्दु पर समोत्पद वक्र EP_1 की ढाल सम लागत रेखा N_2M_2 पर स्थित उसी बिन्दु की ढाल से अधिक है। अतः फर्म मशीन घण्टों के स्थान पर कार्य घण्टों का अधिकाधिक प्रयोग करेगी (अथवा मशीनी घण्टों का कार्य घण्टों से प्रतिस्थापन करेगी) और EP_1 वक्र पर नीचे की ओर चलती चली जाएगी। Q बिन्दु पर मशीनी घण्टों के स्थान पर कार्य घण्टों की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर दोनों साधनों के कीमत अनुपात के बराबर है। इस बिन्दु पर EP_1 समोत्पाद वक्र एवं सम-लागत रेखा N_1M_1 दोनों की ढालें बराबर है। अतः Q साधन संयोग ही वास्तव में अनुकूलतम संयोग है। फर्म L बिन्दु पर 500 इकाइयों का उत्पादन करना नहीं चाहेगी क्योंकि यह बिन्दु अधिक ऊँची सम-लागत रेखा N_2M_2 पर स्थित है। इस L बिन्दु पर मशीनी घण्टों के स्थान पर मशीनी घण्टों का अधिकाधिक प्रयोग करेगी और यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक फर्म अन्ततः Q बिन्दु पर नहीं पहुँच जाती है। इस प्रकार Q बिन्दु समोत्पाद वक्र EP_1 तथा सम-लागत रेखा N_1M_1 की स्पर्शिता को व्यक्त करते हैं। इस स्पर्शिता बिन्दु पर समोत्पाद वक्र एवं सम-लागत रेखा दोनों की ढालें बराबर हैं। समोत्पाद वक्र की ढाल दोनों साधनों की सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं के अनुपात को प्रकट करती है। यह ढाल दोनों साधनों की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को भी व्यक्त करती है। इसके विपरीत, सम-लागत रेखा की ढाल दोनों साधनों के कीमत अनुपात का प्रतिनिधित्व करती है। यह मानते हुए कि C मशीनी घण्टों तथा L कार्य घण्टों को व्यक्त करते हैं।

समलागत-वक्र (Isocost Curves)

दिए हुए दो साधनों के संयोग से फर्म के उत्पादन की संभावनाओं को प्रकट करने वाले सम मात्रा वक्रों का अध्ययन कर लेने के बाद हम साधनों की कीमतों पर आते हैं जिन्हें समलागत-वक्र कहते हैं। इन वक्रों को व्यय-रेखाएँ, लागत कीमत रेखाएँ, साधन-लागत रेखाएँ, स्थिर व्यय रेखाएँ आदि भी कहते हैं। प्रत्येक समलागत-वक्र दो साधनों के भिन्न-भिन्न संयोगों को प्रकट करता है जिन्हें एक दी हुई मुद्रा की मात्रा से प्रत्येक साधन की दी हुई कीमत पर खरीद सकती है।

NOTES

चित्र में तीन समलागत वक्र दिखाए गए हैं जो क्रमशः रु. 50, 75 और 100 के कुल व्यय को प्रकट करते हैं। फर्म रु. 75 से पूँजी की OC या श्रम की OD मात्रा प्राप्त कर सकती है। OC मात्रा OD की 2/3 है। जिसका अभिप्राय है कि पूँजी की एक इकाई से श्रम की एक इकाई की कीमत 1 1/3 गुणा कम है। CD रेखा पूँजी और श्रम के कीमत अनुपात को प्रकट करती है। यदि साधनों की कीमतें स्थिर रहें और कुल व्यय बढ़ा दिया जाए तो समलागत-वक्र ऊपर की ओर दाएँ को सरक जाएगा जैसे CD के समानान्तर EF; और यदि कीमतों को स्थिर रखते हुए कुल व्यय घटा दिया जाए तो वह वक्र नीचे की ओर बाएँ को सरका जाएगा जैसे AB। समलागत-वक्र सरल रेखाएँ होती हैं क्योंकि साधन कीमतें स्थिर रहती हैं, चाहे फर्म का कुल व्यय कुछ भी हो। समलागत-वक्र दो आगत दो साधनों के सभी संयोगों के बिन्दु-पथ का वर्णन करते हैं। जिनसे कुल लागत समान होती है। यदि श्रम (L) की प्रति इकाई लागत W है और पूँजी (C) की प्रति इकाई लागत तय तो कुल लागत: $TC = WL + r\,CA$ समलागत रेखा की ढलान श्रम और पूँजी की कीमतों का अनुपात होती है : W/y।

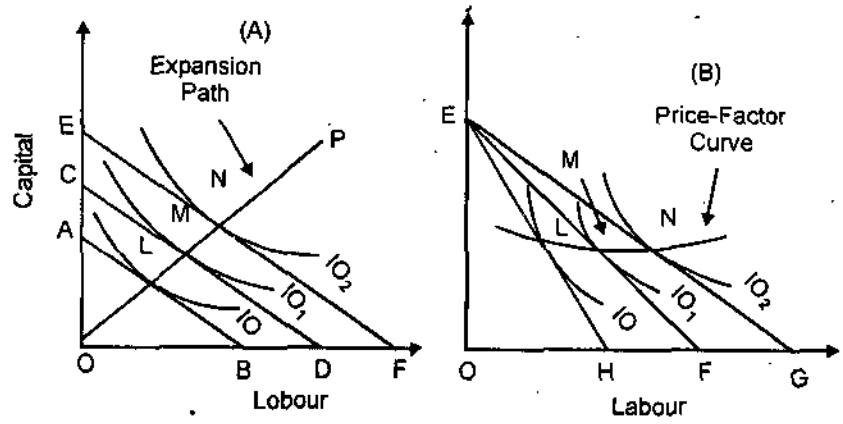

Fig. 11

वह बिन्दु जिस पर समलागत रेखा और समलागत वक्र एक दूसरे को स्पर्श करती है, एक निश्चित उत्पादन के लिए न्यनतम-लागत संयोग को प्रकट करता है। यदि सब स्पर्श बिन्दुओं जैसे L, M, N को मिला दिया जाए तो इससे फर्म का न्यूनतम-व्यय वक्र या फर्म का विस्तार मार्ग OP बनता है। यह प्रकट करता है कि फर्म का विस्तार होने पर दो साधनों के अनुपातों में किस प्रकार परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ चित्र में न्यूनतम लागत पर 100 (IQ) इकाइयों या 300 (IQ_2) इकाइयों के उत्पादन के लिए दो साधनों, श्रम और पूँजी का अनुपात 200 (IQ_1) इकाइयों के लिए प्रयोग किए जाने वाले श्रम और पूँजी के अनुपात से भिन्न है। (*Fig. 11 देखें*)

उदासीनता वक्र विश्लेषण के कीमत आय वक्र की भाँति, यदि एक साधन की कीमत स्थिर रहे और दूसरा साधन सस्ता हो जाए तो समलागत रेखा दाईं ओर फैल जाएगी। यदि एक साधन दूसरे की अपेक्षा महँगा हो जाता है, तो समलागत रेखा बाईं ओर अन्दर को सिकुड जाएगी। पूँजी की कीमत दी होने पर, यदि श्रम की कीमत कम हो जाती है, तो समलागत रेखा EF चित्र के पैनल में दाईं ओर फैलकर EG हो जाएगी, और यदि श्रम की कीमत बढ़ जाती है, तो समलागत रेखा EF बाईं ओर अन्दर को सिकुडकर EH हो जाएगी। यदि संतुलन बिन्दुओं L, M, N को एक रेखा द्वारा मिलाया जाए तो वह कीमत-साधन वक्र कहलाती है।

3.6 तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर का नियम (The Principle of Marginal Rate of Technical Substitution)

तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर का नियम (MRTS) उत्पादन फलन पर आधारित है, जहाँ दो साधनों को परिवर्तीय अनुपातों में इस ढंग से स्थानापन्न किया जा सकता है कि उत्पादन के स्थिर स्तर का उत्पादन किया जा सके।

दो साधनों C (पूँजी) और L (श्रम) में तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर ($MRTS_{LC}$) वह है जिस पर उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन किए बिना वस्तु X के उत्पादन में C के स्थान पर L को स्थानापन्न किया जा सकता है। हम जैसे-जैसे सममात्रा-वक्र पर नीचे की ओर दाएँ को आते हैं, तो उस वक्र पर प्रत्येक बिन्दु पूँजी के स्थान पर श्रम की स्थानापन्नता को व्यक्त करता है।

MRTS पूँजी की उन निश्चित इकइयों की हानि है जिनकी उस वस्तु पर श्रम की अतिरिक्त इकाइयों से ठीक क्षति-पूर्ति हो जाएगी। दूसरे शब्दों में, पूँजी के लिए श्रम की तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर एक बिन्दु पर सममात्रा-वक्र की ढलान है। इसलिए,

सममात्रा वक्र की ढलान = $MRTS_{LC} = -\Delta C/\Delta L$. इसे सममात्रा अनुसूची की सहायता से समझा जा सकता है।

संयोग	श्रम	पूँजी	$MRSTS_{LC}$	उत्पादन
1	5	9	-	100
2	10	6	3 : 5	100
3	15	4	2 : 5	100
4	20	3	1 : 5	100

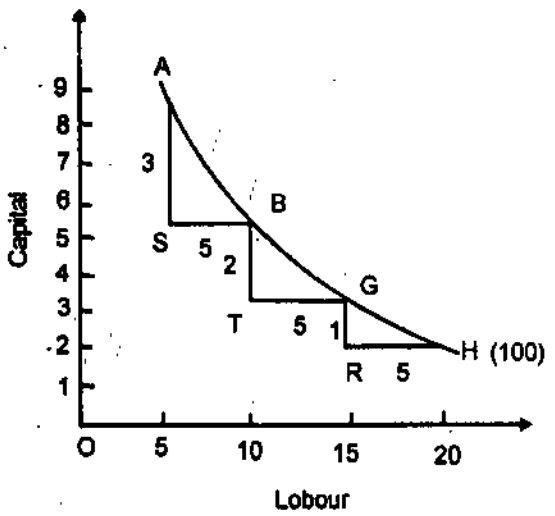

Fig. 12

तालिका यह प्रदर्शित करती है कि उत्पादन को 100 इकाइयों पर स्थिर रखने के लिए दूसरे संयोग में पूँजी की 3 इकाइयाँ घटा देने पर श्रम की 5 अतिरिक्त इकाइयों की आवश्यकता है, $MRTS_{LC} = 3:5$. तीसरे संयोग में पूँजी की 2 इकाइयों की हानि की क्षतिपूर्ति श्रम की 5 इकाइयों से होती है, इत्यादि।

चित्र (*Fig. 12 देखें*) में तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर बिन्दु B पर AS/SB, बिन्दु G पर BT/TG और बिन्दु H पर GR/RH है। तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर को यों भी व्यक्त कर सकते हैं कि यह श्रम के सीमान्त भौतिक उत्पादन का पूँजी के सीमान्त भौतिक उत्पादन से अनुपात है।

या, $$MRTS_{LC} = MP_L/MP_C$$

यद्यपि उत्पादन स्थिर रहता है, तो भी स्थानापन्नता की प्रक्रिया परिवर्तन लाती है। पूँजी की कुछ इकाइयाँ हटाने से उत्पादन कम होता है, जो श्रम की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाने से पुनः प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार,

NOTES

पूँजी की इकाइयाँ हटाने से उत्पादन में कमी ($dC \times MP_C$) बराबर है उत्पादन में श्रम की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाने से उत्पादन में लाभ ($dL \times MP_L$)। इसलिए $-dC/dL = MP_L/MP_C$ – यहाँ MP_L और MP_C श्रम और पूँजी की सीमांत उत्पादकताएँ हैं।

इन संबंधों को गणितीय रूप में व्यक्त किया जा सकता है। एक दिए हुए उत्पादन q के लिए, सममात्रा वक्र पर उत्पादन फलन है : $q = f(C,L)$।

सममात्रा वक्र की ढलान है : $MRTS_{LC} = -dC/dL$, जहाँ d परिवर्तन है। उत्पादन फलन का कुल अवकलन है,

$$dg = MP_C . dC \times MP_L . dL.$$

परन्तु एक सममात्रा वक्र के साथ गति के लिए dq उत्पादन स्थिर है। इस प्रकार ऊपर के समीकरण में $dq = O$ स्थानापन्न करके,

$$O = MP_C\, dC \times MP_L . dL$$

क्योंकि परिभाषा द्वारा $MRTS_{LC} = -dC/dL$

$$MRTS_{LC} = -dC/dL = MP_L MP_C$$

अतः तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर बराबर है श्रम की पूँजी के साथ सीमांत उत्पादकता के अनुपात के।

चित्र में, सममात्रा वक्र AH के q पर ढलान = BT/TG मान लीजिए कि पूँजी की BT इकाइयाँ हटाने से, उत्पादन की एक इकाई कम हो जाती है। यह पूँजी की सीमांत उत्पादकता का उलट है, अर्थात् $1/MP_C$ और उत्पादन की इस इकाई की हानि की क्षतिपूर्ति करने के लिए श्रम की TG इकाइयाँ चाहिए। यह श्रम की सीमांत उत्पादकता का उलट है। अर्थात् $1/MP_L$ इस प्रकार बिन्दु q पर

$$MRTS_{LC} = q = \frac{1}{MP_c} + \frac{1}{MP_L} = \frac{MP_L}{MP_c}$$

चित्र में सममात्रा वक्र AH यह प्रकट करता है कि वस्तु X की 100 इकाइयों के उत्पादन के लिए साधन संयोग में जैसे-जैसे श्रम की इकाइयाँ उत्तरोत्तर बढ़ाई जाती हैं पूँजी की इकाइयों में कमी कम होती जाती है। इसका मतलब है कि तकनीकी स्थानापन्नता की सीमान्त दर घटती जाती है। तकनीकी स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर का यह सिद्धान्त उदासीनता के स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर के नियम के समानान्तर है। तालिका और चित्र से साधनों की घटती सीमान्त स्थानापन्न योग्यता की प्रवृत्ति स्पष्ट है। $MRTS_{LC}$ 3:5 से 1:5 तक घटती जाती है, जबकि चित्र में, अनुलम्ब रेखाओं के नीचे सममात्रा-वक्रों पर त्रिभुज छोटे होते जाते हैं, ज्यों-ज्यों हम सममात्रा-वक्र पर नीचे की ओर आते हैं $GR < BT < AS$। जैसा कि ऊपर परिभाषा दी जा चुकी है, पूँजी के लिए श्रम की $MRTS$ उनकी सीमान्त भौतिक उत्पादकताओं के अनुपात के बराबर होती है। उत्पादन को स्थिर रखने के लिए पूँजी की इकाइयों की हानि की क्षतिपूर्ति के लिए ज्यों-ज्यों श्रम की अधिक इकाइयों को प्रयोग किया जाता है, त्यों-त्यों श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता घटती है और पूँजी की सीमान्त भौतिक उत्पादकता बढती है। इसलिए जब पूँजी के स्थान पर श्रम को स्थानापन्न करते हैं, तो तकनीकी स्थानापन्नता की दर घटती जाती है। इसका अभिप्राय है कि सममात्रा-वक्र हर बिन्दु पर मूल बिन्दु के उन्नतोदर होता है।

सीमाएँ – तकनीकी स्थानापन्नता की घटती सीमान्त दर का नियम इस मान्यता पर आधारित है कि श्रम और पूँजी को अस्थिर दर पर स्थानापन्न किया जा सकता हे। यह मान्यताएं वास्तविक हैं क्योंकि उत्पादक इकाइयों में ऐसी दशाएं होती हैं। पर इस नियम की दो सीमाएं भी हैं : एक, जहाँ श्रम और पूँजी में स्थानापन्नता बिलकुल संभव न हो और दूसरे, जहाँ वे एक-दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न हों। इनकी विवेचना नीचे की जा रही है।

$MRTS_{LC}$ में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन नहीं होता। s स्थनापन्नता की अनन्त लोच का बिन्दु है, जहाँ $MRTS_{LC}$ में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन से पूँजी–श्रम अनुपात में बहुत ही अधिक परिवर्तन हो जाता है। बिन्दु L के गिर्द स्थानापन्नता की लोच इकाई है क्योंकि MRTS में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन से पूँजी–श्रम अनुपात में बराबर का परिवर्तन होता है। (*Fig. 14 देखें*)

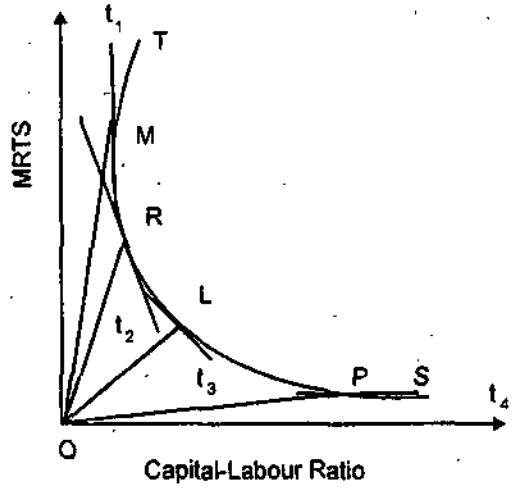

Fig. 14

स्थानापन्ता की लोच के इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जब स्थानापन्नता की लोच इकाई हो, तो उत्पादन स्थिर प्रतिफल के नियम का पालन करता है, इकाई से अधिक लोच, बढ़ते प्रतिफल और इकाई से कम लोच, घटते प्रतिफल से सम्बन्ध प्रकट करती है।

3.7 परिवर्तनशील अनुपातों का नियम (The Law of Variable Proportions)

सममात्रा वक्र विश्लेषण की सहायता से हम परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के व्यवहार या उस अल्पकालीन उत्पादन-फलन की व्याख्या कर सकते हैं जबकि एक साधन स्थिर हो, और दूसरा परिवर्तनशील।

मान लीजिए कि पूँजी स्थिर साधन है और श्रम परिवर्तनशील साधन है। चित्र में OA और OB कूट रेखाएँ हैं तथा उनके बीच पूँजी एवं श्रम की आर्थिक दृष्टिकोण से संभव इकाइयाँ, उत्पादन की 100, 200, 300, 400 एवं 500 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए लगाई जा सकती हैं। इसका अभिप्राय है कि सममात्र वक्रों के इन भागों में पूँजी एवं श्रम की उत्पादकता धनात्मक है। दूसरी ओर, जहाँ, कूट रेखाएँ सममात्रा वक्रों को काटती हैं, साधनों का सीमान्त उत्पादकता शून्य है। उदाहरणार्थ, H बिन्दु पर पूँजी का सीमान्त उत्पादकता शून्य है तथा बिन्दु L पर श्रम का सीमांन्त उत्पादकता शून्य है। जिस सममात्रा वक्र का भाग कूट रेखा से बाहर होगा, उस साधन का सीमांत उत्पादकता ऋणात्मक होगा। उदाहरण के तौर पर, पूँजी की सीमांत उत्पादकता G बिन्दु पर तथा श्रम का सीमांत उत्पाद R बिन्दु पर ऋणात्मक है।

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम यह बताता है कि उत्पादन की तकनीक दी होने पर, एक परिवर्तनशील साधन जैसे श्रम की अधिक-से-अधिक इकाइयाँ एक स्थिर साधन, जैसे पूँजी, पर लगाने से उत्पादन में अनुपात से अधिक वृद्धियाँ होंगी, जब तक कि एक विशेष बिन्दु नहीं आ जाते है और उसके बाद उत्पादन में अनुपात से कम वृद्धियाँ होंगी। क्योंकि यह नियम उत्पादन में वृद्धियों के बारे में बताता है, इसलिए यह सीमांत उत्पाद से संबंधित हैं इस नियम को समझाने के लिए पूँजी को स्थिर साधन तथा श्रम को परिवर्तनशील साधन लिया गया है। चित्र में सममात्रा वक्र उत्पादन के विभिन्न स्तर दर्शाते हैं। OC पूँजी की स्थिर मात्रा है जो एक समानान्तर

NOTES

रेखा CD द्वारा दिखाई गई है। जब हम इस रेखा पर दाईं ओर C से D की ओर चलते हैं तो इस पर विभिन्न बिन्दू पूँजी की स्थिर मात्रा OC के साथ लगातार बढती हुई श्रम की मात्राओं के संयोगो के प्रभाव को दिखाते हैं।

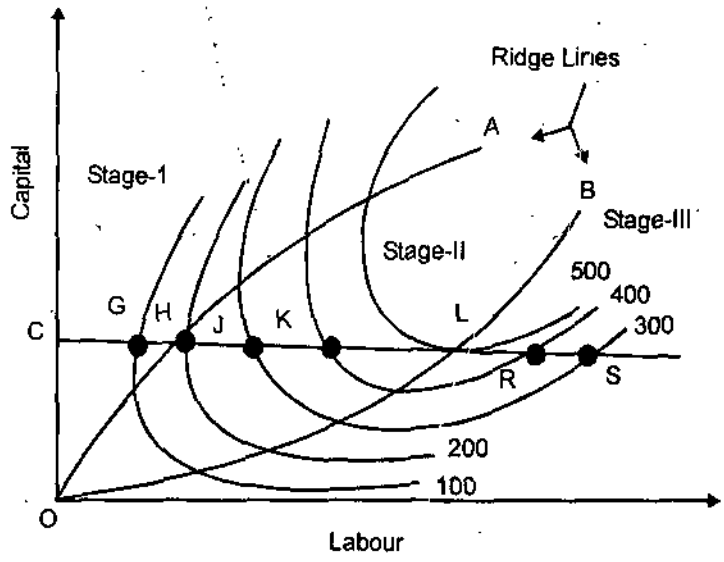

Fig. 15

प्रारंभ में जब हम C से G और H पर पहुँचते हैं, तो यह परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की प्रथम स्टेज, बढते सीमान्त प्रतिफल को दिखाती है। जब OC पूँजी के साथ CG श्रम लगाया जाता है तो उत्पादन 100 होता है। उत्पादन की 200 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए, श्रम की मात्रा GH बढा दी जाती है जबकि पूँजी की मात्रा OC स्थिर ही रहती है। उत्पादन तो दुगुना हो जाता है परन्तु श्रम की मात्रा उत्पादन के अनुपात में नहीं बढाई गई है, GH > CG इसका मतलब है कि श्रम शक्ति में छोटी वृद्धियों से उत्पादन में समान वृद्धियाँ हुई हैं। अतः C से H परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की प्रथम स्टेज है जिसमें सीमान्त उत्पाद बढ़ता है क्योंकि जब अधिक उत्पादन किया जाता है तो श्रम का प्रति इकाई उत्पादन बढ़ता है। (*Fig. 15 देखें*)

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की दूसरी अवस्था सममात्रा–वक्रों का वह भाग है जो दो कूट–रेखाओं OA और OB के बीच स्थित है। जब श्रम की अधिक मात्रा लगाई जाती है तो लगाई गई श्रम की मात्रा की वृद्धि के अनुपात से कुल उत्पादन में कम वृद्धि होती है। यह H और L बिन्दुओं के बीच घटते सीमान्त प्रतिफलों की स्टेज है। उत्पादन को 200 से 300 इकाइयों पर लाने के लिए श्रम की HJ मात्रा लगाई जाती है। फिर, उत्पादन को 300 से 400 बढाने के लिए श्रम की JK मात्रा तथा 400 से 500 बढाने के लिए श्रम की और अधिक मात्रा KL अपेक्षित है। अतः उत्पादन की 100 इकाइयाँ बढाने के लिए हर बार परिवर्तनशील साधन की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयाँ स्थिर साधन के लिए लगानी पड़ती हैं, KL > JK > HJ. जिसका अभिप्राय है कि H और K के बीच श्रम का सीमान्त उत्पाद क्रमशः कम होता जाता है जब इसकी अधिक इकाइयाँ लगाई जाती हैं। यह परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की दूसरी अवस्था है जिसे घटते प्रतिफल की अवस्था कहते हैं।

यदि श्रम की मात्रा और बढा दी जाए, तो हम नीची कूट-रेखा OB के बाहर आ जाते हैं और परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की तीसरी अवस्था में प्रवेश करते हैं। इस क्षेत्र में, जो कूट रेखा OB से नीचे स्थित है। इस प्रकार श्रम से बहुत अधिक काम लिया जा रहा है और उसकी उत्पादकता ऋणात्मक हो गई। इस प्रकार श्रम से बहुत अधिक काम किया जा रहा है और उसका सीमांत उत्पाद ऋणात्मक हो गया है। दूसरे शब्दों में, जब श्रम की मात्रा LR और RS बढाई जाती है तो उत्पादन बढने के अपेक्षा 500 से 400 से 300 इकाइयाँ कम हो जाता है। यह ऋणात्मक सीमान्त प्रतिफल की स्टेज है।

हम उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की दूसरी अवस्था में उत्पादन करना ही फर्म के लिए लाभदायक है क्योंकि कूटरेखा के बाएँ और दाएँ के भागों में जो नियम की क्रमशः पहली और तीसरी अवस्था बनाते हैं, उत्पादन करना हानिकर होगा।

पैमाने के प्रतिफल के नियम (The Laws of Returns of Scale)

पैमाने के प्रतिफल के नियमों की भी सममात्रा वक्रों की धारणा से व्याख्या की जाते सकती है। पैमाने के प्रतिफल के नियमों से अभिप्राय साधनों के पैमाने में परिवर्तन के उत्पादन पर प्रभावों से है जब साधनों के संयोग किसी अनुपात में परिवर्तित किए जाते हैं। यदि दो साधनों, श्रम और पूँजी, को समान अनुपात में बढा देने से उत्पादन बिलकुल उसी अनुपात में बढ़ता है, तो पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैं। यदि उत्पादन में समान वृद्धियाँ प्राप्त करने के लिए, दोनों साधनों को बड़ी आनुपातिक इकाइयों में बढ़ा दिया जाता है, तो पैमाने के घटते प्रतिफल होते हैं।

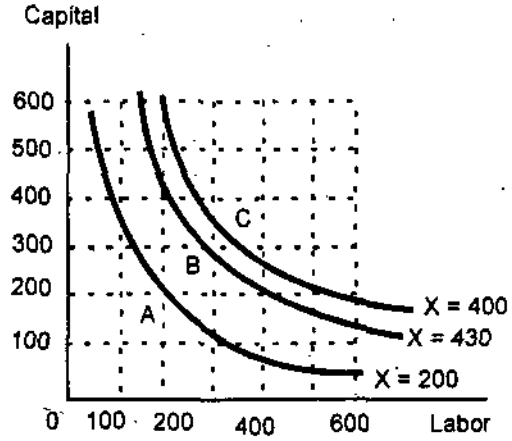

Fig. 16

यदि उत्पादन में समान वृद्धियाँ प्राप्त करने के लिए, दोनों साधनों को थोड़ी आनुपातिक इकाइयों में बढ़ा दिया जाता है, तो पैमाने के बढ़ते प्रतिफल होते हैं। (*Fig. 16 देखें*)

पैमाने के प्रतिफलों के चित्र में एक प्रसार पथ पर 'उत्पादन-के-बहु-स्तर' क्रमिक सममात्रा वक्रों के बीच अन्तर द्वारा दिखाया जा सकता है, अर्थात्, सममात्रा वक्र जो उत्पादन के ऐसे स्तर दर्शाते हों जो उत्पादन के किसी आधार स्तर के गुणज हैं, जैसे 100, 200, 300 आदि।

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल

चित्र (*Fig. 16 देखें*) पैमाने के बढ़ते प्रतिफलों को दर्शाता है जहाँ उत्पादन की समान वृद्धियाँ प्राप्त करने के लिए, दोनों साधनों, श्रम और पूँजी, की उत्तरोत्तर कम आनुपातिक वृद्धियाँ चाहिए। जैसे चित्र में दिखाया गया है।

उत्पादन में 100 इकाइयों के लिए चाहिए $3C + 3L$

उत्पादन में 200 इकाइयों के लिए चाहिए $5C + 5L$

उत्पादन में 300 इकाइयों के लिए चाहिए $6C + 6L$

जिससे प्रसार पथ OR पर $OA > AB > BC$ इस स्थिति में, उत्पादन फलन एक से अधिक कोटि का समरूप है।

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल मशीनों, प्रबंधकर्ता, श्रम, वित्त आदि में अविभाज्यताओं के कारण पाए जाते हैं। कुछ उपकरणों या क्रियाओं के न्यूनतम आकार होते हैं और उन्हें छोटे आकारों में विभाजित नहीं किया जा सकता है जब कोई व्यावसायिक इकाई फैलती है, तो पैमाने के प्रतिफल बढते हैं क्योंकि अविभाज्य साधनों को उनकी

NOTES

पूरी क्षमता तक लगाया जाता है।

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल विशेषीकरण और श्रम विभाजन का भी परिणाम होते हैं। जब फर्म का पैमाना फैलता है तो विशेषीकरण और श्रम विभाजन का क्षेत्र विस्तृत होता है जिससे दक्षता बढ़ती है और पैमाने के प्रतिफलों में वृद्धि होती है। आगे, जब फर्म फैलती है तो उसे उत्पादन की आन्तरिक किफायतें प्राप्त होती हैं जिससे वह बेहतर मशीनें लगा सकती है, अधिक आसानी से वस्तुओं को बेच सकती है, सस्ती दर पर मुद्रा उधार ले सकती है, अधिक कुशल प्रबंधकों और श्रमिकों की सेवाएँ प्राप्त कर सकती है। ये सभी किफायतें पैमाने के प्रतिफलों को अनुपात से अधिक बढ़ाने में सहायक होती है।

केवल इतना ही नहीं, बाहरी किफायतों के कारण भी फर्म पैमाने के बढ़ते प्रतिफलों के लाभ उठाती है। जब अपनी दीर्घकालीन माँग को पूरा करने के लिए उद्योग अपना विस्तार करता है तो बाहरी किफायतें उत्पन होती हैं, जिनके उद्योग की सभी फर्मों को लाभ होते हैं। जैसे बहुत सी फर्मों के एक स्थान पर केन्द्रित होने से कुशल श्रम, उधार और यातायात की सुविधाओं का आसानी से मिलना। सहायक उद्योगों की स्थापना, व्यापार पत्रिकाओं, शोध और अनुसंधान केन्द्रों का खुलना आदि जो फर्मों की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस प्रकार की बाहरी किफायतों से पैमाने के प्रतिफल बढ़ते हैं।

पैमाने के घटते प्रतिफल

चित्र घटते प्रतिफलों को दर्शाता है, जहाँ उत्पादन में समान वृद्धियाँ प्राप्त करने के लिए, उत्तरोत्तर श्रम और पूँजी दोनों की आनुपातिकता से अधिक वृद्धियाँ चाहिए। जैसे चित्र में

उत्पादन की 100 इकाइयों के लिए चाहिए $2C + 2L$

उत्पादन की 200 इकाइयों के लिए चाहिए $5C + 5L$

उत्पादन की 300 इकाइयों के लिए चाहिए $9C + 9L$

जिससे प्रसार पथ OR पर $OG < GH < HK$.

इस स्थिति में, उत्पादन फलन एक से कम कोटि का समरूप है पैमाने के घटते प्रतिफल निम्नलिखित कारणों से प्रारंभ हो सकते हैं। अविभाज्य साधन अकुशल और कम उत्पादक हो सकते हैं। व्यापार भारी-भरकम हो सकता है जिससे ताल-मेल और देख-भाल की समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं। प्रबन्ध का विस्तार होने से नियंत्रण और कठोरताओं की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन आन्तरिक अमितव्ययिताओं के साथ पैमाने की बाहरी अमितव्ययिताएँ मिल जाती हैं। ये ऊँची साधन कीमतों या साधनों की घटती उत्पादकता से उत्पन्न होती हैं। जब उद्योग का विस्तार जारी रहता है, तो प्रशिक्षित श्रम, भूमि, पूँजी आदि की माँग बढ़ जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता के कारण मजदूरी लगान और ब्याज की दरें बढ़ जाती हैं। कच्चे माल की कीमतें भी बढ़ जाती हैं। यातायात और मार्किटिंग की समस्याएं पैदा हो जाती हैं। इन सब कारणों से लागतें बढ़ने लगती हैं और फर्मों के विस्तार से पैमाने का प्रतिफल घटने लगता है।

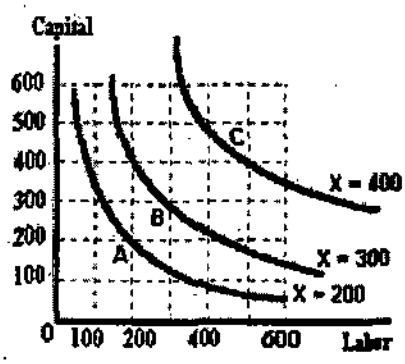

Fig. 17

पैमाने के स्थिर प्रतिफल

चित्र पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है, कि सममात्रा वक्रों 100, 200 और 300 के बीच अन्तर प्रसार पथ पर समान है, अर्थात् इसका अभिप्राय है कि यदि श्रम और पूँजी दोनों साधनों की इकाइयों को दुगुना कर दिया जाता है तो उत्पादन भी दुगुना हो जाता है। उत्पादन को तिगुना करने के लिए दोनो साधनों की इकाइयों को तिगुना कर दिया जाता है। जैसे चित्र में

उत्पादन की 100 इकाइयों के लिए चाहिए। $(2C + 2L) = 2C + 2L$

उत्पादन की 200 इकाइयों के लिए चाहिए $2(2C + 2L) = 4C + 4L$

उत्पादन की 300 इकाइयों के लिए चाहिए $3(2C + 2L) = 6C + 6L$

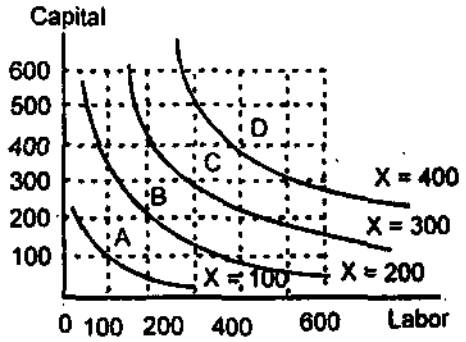

Fig. 18

पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैं जब एक फर्म द्वारा प्राप्त आंतरिक किफायतें और आंतरिक अनियमितताएँ निष्प्रभावित हो जाती है, जिससे उत्पादन उसी अनुपात में बढता है। दूसरा कारण बाहरी किफायतों और बाहरी अमितव्ययिताओं का बराबर होना है। पैमाने के स्थिर प्रतिफल इस कारण भी होते हैं जब उत्पादन के साधन विभाज्य, स्थानापन्न और समरूप हों तथा दी हुई कीमतों पर उनकी आपूर्तियाँ पूर्ण लोचदार होती है। इसलिए पैमाने के स्थिर प्रतिफलों के लिए उत्पादन फलन समरूप एक कोटि का होता है।

हमने ऊपर पैमाने के तीनों नियमों की अलग-अलग व्याख्या इस मान्यता पर की है कि फर्म की तीन प्रक्रिया उत्पादन के समस्त रेंजों पर एक ही प्रतिफल दर्शाती है, जैसे कि चित्र केवल बढते प्रतिफल, चित्र केवल *घटते प्रतिफल और चित्र केवल स्थिर प्रतिफल। फिर भी, उत्पादन की तकनीकी स्थितियां ऐसी* हो सकती हैं कि पैमाने के प्रतिफल उत्पादन की विभिन्न रेंजों पर बदल सकते हैं। कुछ रेंज पर, हमें पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं, जबकि दूसरी रेंज पर हमें पैमाने के बढते या घटते प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं।

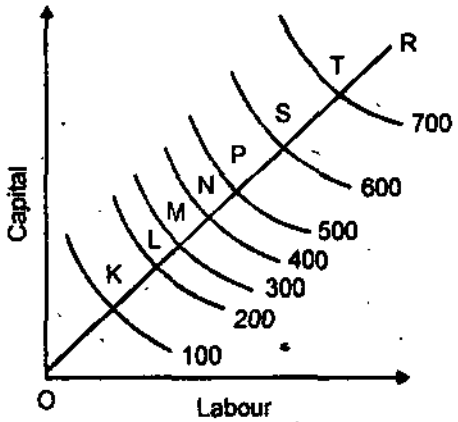

Fig. 19

NOTES

इसे समझाने के लिए हम मूल बिन्दु से एक विस्तार पथ OR खींचते हैं। उत्पादन की समान वृद्धियों अर्थात् 100, 200, 300 इत्यादि को प्रकट करने वाले क्रमिक सममात्रा विस्तार पथ को टुकड़ों में बांट देते हैं। जैसे-जैसे हम विस्तार पथ के साथ-साथ चलते हैं, क्रमिक सममात्रा वक्रों में अन्तर घटता जाता है। यह पैमाने के बढते प्रतिफल की स्थिति है। चित्र में यह अवस्था K से M तक दिखाई गई है जहाँ KL और LM में अन्तर क्रमिक रूप से घटता जाता है; LM < KL. इस प्रकार, फर्म को उत्पादन की समान वृद्धियों का उत्पादन करने के लिए श्रम और पूँजी की कम मात्रा में वृद्धि की जरूरत पड़ती है। (*Fig. 19 देखें*)

यदि सममात्रा-वक्रों के दो खण्डों का अन्तर समान हो तो पैमाने का प्रतिफल स्थिर होता है। यदि श्रम और पूँजी की मात्रा दुगुनी कर दी जाए तो उत्पादन भी दुगुना हो जाएगा। इस प्रकार जब उत्पादन 300 से बढकर 400, और 500 इकाइयों पर आता है, तो इन उत्पादन के स्तरों को प्रकट करने वाले सममात्रा वक्र बिन्दु P तक, विस्तार पथ पर समान खण्ड काटते हैं अर्थात् MN = NP.

यदि पैमाने का प्रतिफल घटता हुआ हो, तो विस्तार पथ पर दो सममात्रा-वक्रों के बीच की दूरी बड़ी हो जाएगी। ST > PS. इसका अभिप्राय है कि उत्पादन में समान वृद्धियों लिए श्रम और पूँजी की मात्रा में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि चाहिए। इस प्रकार, एक ही प्रसार पथ पर K से M तक पैमाने के बढते प्रतिफल हैं, M से P तक पैमाने के स्थिर प्रतिफल हैं और P से T तक पैमाने के घटते प्रतिफल हैं।

पैमाने के प्रतिफल और साधन के प्रतिफल में संबंध (Relation Between Returns to Scale and Returns to a Factor)

एक साधन के प्रतिफल का संबंध अल्पकालीन उत्पादन संतुलन से है जब अधिक उत्पादन करने के लिए एक साधन को परिवर्तित और दूसरे साधन को स्थिर रखा जाता है, तो परिवर्तनशील साधन के सीमांत प्रतिफल या सीमांत भौतिक उत्पादकता कम होते हैं। दूसरी ओर, पैमाने के प्रतिफल का संबंध दीर्घकालीन उत्पादन फलन से होता है, जब एक फर्म अपने एक या अधिक साधनों को परिवर्तित करके अपने उत्पादन के पैमाने को बदलती है। पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते है। जब उत्पादन उसी अनुपात में बढता है जिस अनुपात में साधनों की इकाईयाँ बढती हैं। पैमाने के प्रतिफल बढते हैं जब उत्पादन में वृद्धि अनुपात में साधनों की इकाइयों में वृद्धि से अधिक होती है। पैमाने के प्रतिफल घटते हैं यदि उत्पादन में वृद्धि अनुपात में साधनों की इकाइयों में वृद्धि से कम होती है।

हम एक साधन के प्रतिफल और पैमाने के प्रतिफल में संबंध की विवेचना निम्नलिखित मान्यताओं के आधार पर करते हैं :

1. उत्पादन के केवल दो साधन, श्रम और पूँजी हैं।
2. श्रम परिवर्तनशील साधन है और पूँजी स्थिर साधन है।
3. उत्पादन फलन समरूप है।

ये मान्यताएँ दी होने पर, हम पहले पैमाने के स्थिर प्रतिफल और एक परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल को चित्र (*Fig. 20 देखें*) द्वारा समझाते हैं जहाँ OS प्रसार पथ है जो पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है, क्योंकि प्रसार पथ पर दो सममात्रा वक्रों 100 और 200 के बीच अन्तर बराबर है, अर्थात् OM = MN. उत्पादन की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए OC + OL पूँजी और श्रम की मात्राएँ लगाने से फर्म M बिन्दु पर पहँचती है। उत्पादन की दुगुनी (200) इकाइयों के लिए श्रम और पूँजी की दुगुनी मात्राएँ $OC_2 + OL_2$ लगाने से फर्म N बिन्दु पर पहुँचती है। इस प्रकार, पैमाने के प्रतिफल स्थिर हैं क्योंकि OM = MN.

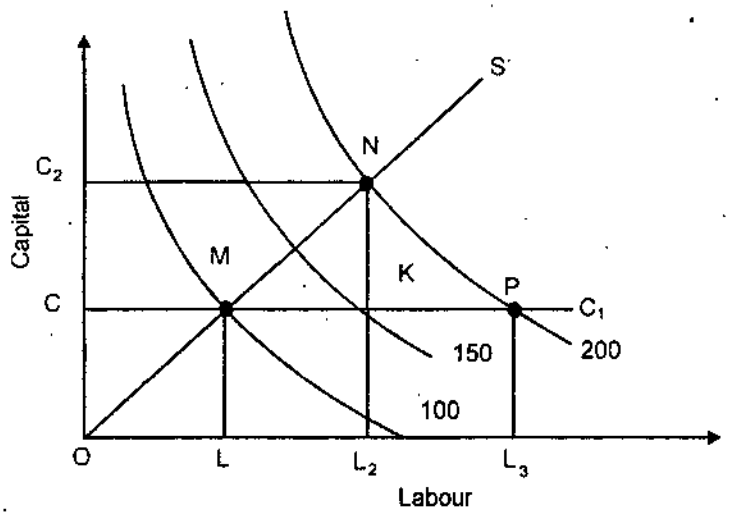

Fig. 20

यह सिद्ध करने के लिए कि परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल कम होते हैं। हम पूँजी की OC मात्रा को स्थिर साधन लेते हैं जिसे CC_1 रेखा द्वारा दिखाया गया है। C को स्थिर रखते हुए यदि श्रम की मात्रा को LL_2 द्वारा दुगुना कर दिया जाता है, तो हम K बिन्दु पर पहुँचते हैं जो सममात्रा वक्र 200 की अपेक्षा एक नीचे सममात्रा वक्र 150 पर स्थित है। C को स्थिर रखते हुए, यदि उत्पादन का 100 से 200 इकाइयाँ करके दुगुना करना हो, तो श्रम की L_3 इकाइयों की आवश्यकता पड़ेगी। परन्तु $L_3 > L_2$. इस प्रकार, C को स्थिर रखकर श्रम की इकाइयाँ दुगुनी करने से, उत्पादन दुगने से कम होता है। यह P बिन्दु पर 200 इकाइयों की बजाए K बिन्दु पर 150 इकाइयाँ है। यह दर्शाता है कि परिवर्तनशील साधन, श्रम के सीमांत प्रतिफल कम हुए हैं। जैसाकि स्टोनियर और हेग ने व्यक्त किया है, "इसलिए, यदि उत्पादन फलन सदैव प्रथम कोटि का समरूप हो तो और यदि पैमाने के प्रतिफल सदैव स्थिर हों तो सीमांत भौतिक उत्पादकता (प्रतिफल) सदैव कम होंगे।"

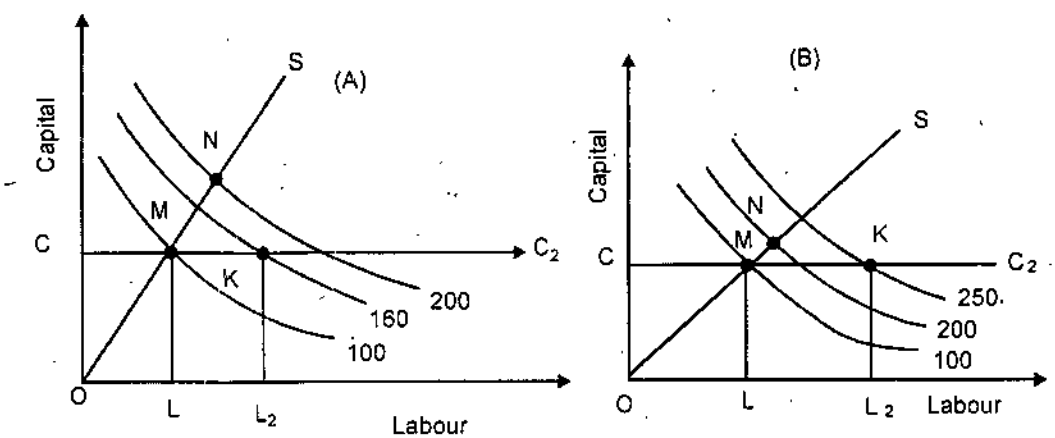

Fig. 21

पैमाने के घटते प्रतिफल और परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल में संबंध को चित्र (*Fig. 21 देखें*) द्वारा समझाया गया है, जहाँ प्रसार पथ OS पैमाने के घटते प्रतिफल दर्शाता है क्योंकि इसका खंड MN > OM. इसका अभिप्राय है कि उत्पादन को दुगुना 100 से 200 करने के लिए दोनों साधनों की दुगुने से अधिक मात्राएँ

NOTES

स्तर सममात्रा वक्र 175 के बिन्दु R पर ले जाएंगे जो सममात्रा-वक्र 200 से नीचे है। यह पैमाने के घटते प्रतिफल दर्शाता है। यदि C को स्थिर रखा जाए और परिवर्तनशील साधन, श्रम, की मात्रा को LL_2 द्वारा दुगुना कर दिया जाए, तो हम बिन्दु K पर पहुँचते है कि परिवर्तनशील साधन, श्रम के सीमांत प्रतिफल (या सीमांत भौतिक उत्पादकता) कम होते हैं।

अब हम पैमाने के बढते प्रतिफल और परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल के बीच संबंध लेते हैं। इसे चित्र में दर्शाया गया है। पेनल में, प्रसार पथ OS पैमाने के बढते प्रतिफल को व्यक्त करता है, क्योंकि भाग OM > MN. इसका मतलब है कि उत्पादन को 100 से 200 करने के लिए, दोनों साधनों की दुगुनी से कम मात्राएँ चाहिए। यदि C को स्थिर रखा जाता है और परिवर्तनशील साधन, श्रम, की मात्रा को LL_2 द्वारा दुगुना कर दिया जाता है, तो उत्पादन का K स्तर सममात्रा 200 से नीचे सममात्रा वक्र 160 पर पहुँचता है जो घटते सीमांत प्रतिफल को व्यक्त करता है।

यदि पैमाने के प्रतिफल तेजी से बढते हैं, अर्थात् वे बहुत धनात्मक हैं, तो वे परिवर्तनशील साधन, श्रम, के घटते प्रतिफलों को निष्क्रिय कर देंगे। ऐसी स्थिति बढते सीमांत प्रतिफल लाती है। इसकी पेनल द्वारा व्याख्या की गई है जहाँ प्रसार पथ OS पर भाग OM > MN पैमाने के बढते प्रतिफल दर्शाता है। जब परिवर्तनशील साधन, श्रम, को LL_2 मात्रा द्वारा दुगुना किया जाता है, C को स्थिर रखकर, तो हम सममात्रा वक्र 250 के बिन्दु K पर पहुँचते हैं जो सममात्रा वक्र 200 से ऊपर स्थित है। यह सिद्ध करता है कि परिवर्तनशील साधन, श्रम के सीमांत प्रतिफलों में वृद्धि हुई है जबकि पैमाने के प्रतिफल बढ़ रहे हैं।

निष्कर्ष – ऊपर के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक समरूप उत्पादन फलन के अन्तर्गत जब एक स्थिर साधन का परिवर्तनशील साधन के साथ संयोग किया जाए, तो परिवर्तनशील साधन के प्रतिफल घटते हैं जब पैमाने के प्रतिफल स्थिर, घटते और बढते रहते हैं। फिर भी, यदि पैमाने के तेजी से बढते प्रतिफल हों, तो परिवर्तनशील साधन के सीमांत प्रतिफल घटने की बजाए बढते हैं।

3.8 लागतों की प्रकृति तथा लोच (The Nature of Costs and Cost Elasticity)

फर्म की लागत उसकी पूर्ति को निर्धारित करती है पूर्ति और माँग द्वारा कीमत निर्धारित होती है। कीमत निर्धारण की प्रक्रिया और पूर्ति शक्तियों को समझने के लिए हमें लागत की प्रकृति को समझना होगा। इस भाग में हम लागतों की कुछ महत्त्वपूर्ण धारणाओं, लागतों के परम्परागत और आधुनिक सिद्धांत और लागतों की लोच का अध्ययन करेंगे।

लेखांकन और आर्थिक लागतें (Accounting and Economic Costs)

किसी फर्म द्वारा एक वस्तु के उत्पादन में किए गए कुल मुद्रा व्यय को मुद्रा लागतें कहते हैं। इसमें श्रम की मजूदरी और वेतन; कच्चे माल कम लागत; मशीनों और उपकरणों का खर्च; मशीनों के मूल्यह्रास और घिसने और ब्याज; बिल्डिंग तथा अन्य पूँजी-पदार्थ और बिल्डिंग का किराया; उधार ली हुई पूँजी का ब्याज; बिजली, ईंधन, यातायात और विज्ञापन; तथा बीमे का खर्च और सब प्रकार के कर शामिल हैं। ये लेखांकन लागतें हैं जो एक उद्यमी उत्पादन के विभिन्न साधनों को भुगतान करने के लिए ध्यान में रखता है। ये मुद्रा लागतें सुनिश्चित लागतें (explicit costs) कहलाती हैं जो एक लेखाकार फर्म की लेखा पुस्तकों में दर्ज करता है। लेकिन एक अन्य प्रकार की भी आर्थिक लागतें होती हैं जिन्हें अंतर्निहित लागतें (imputed costs) कहते हैं। उद्योग के अपने स्रोतों और सेवाओं का आरोपित मूल्य (imputed value) अंतर्निहित लागत हैं। प्रबन्धकर्ता-मालिक का वेतन, जो वेतन न लेकर सामान्य लाभ से ही संतुष्ट है; यदि बिल्डिंग उद्योगपति की अपनी हो, तो उसका अनुमानित किराया; और मार्किट की ब्याज दर पर उद्योगपति की अपनी लगाई हुई पूँजी का ब्याज, लागत में आते हैं। अतः

किराया; और मार्किट की ब्याज दर पर उद्योगपति की अपनी लगाई हुई पूँजी का ब्याज, लागत में आते हैं। अतः आर्थिक लागतों में लेखांकन लागतें जमा अंतर्निहित लागतें शामिल होती हैं, अर्थात् सुनिश्चित तथा अंतर्निहित दोनों प्रकार की लागतें।

उत्पादन लागतें (Production Costs)

उत्पादन की इन कुल लागतों को दो भागों में बाँटा जाता है; परिवर्तनशील लागतें और स्थिर लागतें।

कुल परिवर्तनशील लागतें (Total Variables Costs) - वे खर्च होते हैं जो फर्मों का उत्पादन में परिवर्तन होने पर परिवर्तित हो जाते हैं। अधिक उत्पादन के लिए श्रम, कच्चे माल, शक्ति, ईंधन आदि उपकरणों की अधिक मात्रा की जरूरत होती है, जिनसे उत्पादन का खर्च बढ़ जाता है। जब उत्पादन कम हो जाता है, तो परिवर्तनशील लागतें भी घट जाती हैं और उत्पादन के बिल्कुल बन्द हो जाने पर वह समाप्त हो जाती है। मार्शल ने परिवर्तनशील लागतों को उत्पादन की प्रमुख लागतें (prime costs) कहा है।

कुल स्थिर लागतें (Total Fixed Costs) - जिन्हें मार्शल पूरक लागतें (supplementary costs) कहता है, उत्पादन के वे खर्च होते हैं, जो उत्पादन में परिवर्तन होने पर परिवर्तित नहीं होते। किराए और ब्याज का भुगतान, अवमूल्यन खर्च, स्थायी स्टॉफ की मजदूरी और वेतन स्थायी लागतें हैं, जो अस्थायी रूप से उत्पादन बन्द हो जाने पर भी फर्म को खर्च करनी पड़ती हैं। क्योंकि ये लागतें उत्पादन के सामान्य खर्चों के अतिरिक्त होती हैं, इसलिए इन्हें व्यापार की भाषा में उपरि लागतें (overhead costs) कहते हैं।

लागतों के संबंध को चित्र में दिखाया गया है जहाँ समानांतर वक्र FC और X- अक्ष के बीच का अंतर कुछ स्थिर लागतों को मापता है और कुछ परिवर्तनशील लागतें FC वक्र के उपर का भाग है, अर्थात् TC और TFC के बीच का अंतर है। इस प्रकार OQ_1 उत्पादन स्तर पर, TC = TFC + TVC बराबर है : $Q_1L = Q_1P + PL$ इसी प्रकार OQ_2 उत्पादन स्तर पर $Q_2M = Q_2S + SM$. (*Fig. 22 देखें*)

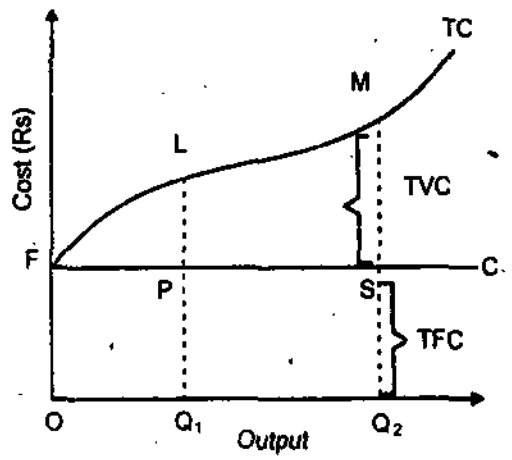

Fig. 22

महत्त्व (Importance) – स्थिर और परिवर्तनशील लागतों में यह केवल अल्पकाल में ही सही होता है। अल्पकालीन में कोई फर्म अपनी वस्तु को घाटे में बेच सकती है परन्तु वह तब तक उत्पादन करती रहेगी, जब तक कि वह परिवर्तनशील लागतों को पूरा कर लेती है। दीर्घकाल में समस्त लागतें परिवर्तनशील होती हैं क्योंकि फर्म अपनी लगी हुई मशीनें, उपकरण, श्रम की मात्रा आदि को परिवर्तित कर सकती है। इस प्रकार दीर्घकालीन में सब लागतें परिवर्तनशील बन जाती हैं और वर्तमान कीमत पर फर्म को इन्हें पूरा करना पड़ेगा अन्यथा इसका

NOTES

वास्तविक लागत (Real Costs)

उत्पादक के दृष्टिकोण से उत्पादन के खर्च मुद्रा-लागत हैं परन्तु वे इस बारे में कुछ नहीं बताते कि इन लागतों के पीछे क्या है। मार्शल का विचार था कि एक वस्तु के उत्पादन में समाज के विभिन्न सदस्यों द्वारा किया गया प्रयत्न और त्याग (efforts and sacrifices) उत्पादन की वास्तविक लागतें हैं। पूँजीपति द्वारा बचत करने और मुद्रा को लगाने, श्रमिक द्वारा अपने अवकाश को छोड़ने और भूमिपति द्वारा भूमि के प्रयोग के लिए किए गए प्रयत्न और त्याग कुल मिलाकर वास्तविक लागतें बनाते हैं।

परन्तु वास्तविक लागतें कभी उत्पादन के मुद्रा खर्चों के बराबर नहीं होती। मार्शल ने स्वयं यह लिखकर इस बात को स्वीकार किया था कि "यदि मुद्रा की क्रय-शक्ति प्रयत्न की भाषा में लगभग, स्थिर रहती है और यदि प्रतीक्षा के लिए पारिश्रमिक की दर लगभग स्थिर रहती है, तो लागतों की मुद्रा माप वास्तविक लागतों के अनुरूप होती है परन्तु इस प्रकार की अनुरूपता को आसानी से नहीं मान लिया जा सकता।" जो काम अरुचिकर होता है, उसकी मजदूरी अधिक नहीं होती और जो काम हल्का होता है उसकी मजदूरी कम नहीं होती। पाँच रुपये बचाने वाले व्यक्ति के त्याग को पाँच रुपये मजदूरी पाने वाले श्रमिक के कष्टपूर्ण प्रयत्न के समान भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अल्पकालीन या दीर्घकालीन में मुद्रा-लागतें और उत्पादन की वास्तविक लागतें एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होती बल्कि यह हमें अवास्तविकता के जंजाल और भ्रमपूर्ण उपकल्पना में ले जाती है।

अवसर लागत (Opportunity Cost) वह लागत होती है जो एक के बजाए दूसरी वस्तु को लेने में अवसर छिन जाने या वैकल्पिक त्याग में अथवा एक के स्थान पर दूसरी साधन-सेवा का प्रयोग करने में आती हैं। क्योंकि स्रोत दुर्लभ हैं, इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। अतः यदि एक वस्तु के उत्पादन में उन्हें प्रयोग करना है, तो अन्य प्रयोगों से उनको हटा लेना होगा। इस प्रकार एक की लागत दूसरे की लागत का वैकल्पिक त्याग है। बैनहम के शब्दों में, 'किसी वस्तु की अवसर लागत वह दूसरा सबसे अच्छा विकल्प है जिसका उन्हीं साधनों से या उनके समान उतनी ही मुद्रा लागत के साधनों से समूह से उसकी उपेक्षा उत्पादन किया जा सकता था।' गेहूँ के उगाने के लिए भूमि के प्रयोग की लागत उस वैकल्पिक फसल का मूल्य है जो उस पर लगाई जा सकती थी। श्रम की वास्तविक लागत वह है जो उसे किसी अन्य रोजगार में मिल सकती थी। पूँजीपति के लिए पूँजी का लागत वह ब्याज है जो उसे कहीं और मिल सकता था। प्रबन्धकर्ता की सामान्य कमाई वह है जो उद्योगपति को किसी संयुक्त स्टॉक कम्पनी के प्रबन्धक के रूप में मिल सकती थी। इस प्रकार वास्तविक लागत छिने हुए अवसर या वैकल्पिक त्याग की लागत है।

अवसर लागत में सुनिश्चित (explicit) और अंतर्निहित (implicit) दोनों प्रकार ही लागतें शामिल होती हैं सुनिश्चित लागतें वे सीधे खर्चे हैं जो एक फर्म को वस्तुएँ खरीदने के लिए किए जाते हैं। उसमें मजदूरी और वेतन, कच्चे माल, बिजली, ईंधन, विज्ञापन, परिवहन और कर के खर्च शामिल हैं। अंतर्निहित लागतें उद्यमी द्वारा अपने संसाधनों और सेवाओं का आरोपित (imputed) मूल्य है। दूसरे शब्दों में, स्वनियोजित (self-employed) और निजी स्वामित्व संसाधन अपने सबसे बढ़िया वैकल्पिक प्रयोग में जो कमा सकते थे, वे उनकी अंतर्निहित लागतें हैं, इस प्रकार अंतर्निहित मजदूरी, लगान और ब्याज का संबध सबसे ऊँची मजदूरी, लगान और ब्याज से है, जो एक उद्यमी अपने श्रम, बिल्डिंग और पूँजी का स्वयं प्रयोग न करके दूसरों को उधार देकर अथवा उनकी सेवा में लगाकर प्राप्त कर सकता था। परन्तु इसका वह मतलब नहीं कि केवल अंतर्निहित लागतें ही अवसर लागत में शामिल होती हैं और सुनिश्चित लागतें इसमें शामिल नहीं होती। वास्तव में, किसी भी फर्म की अवसर लागत में सभी त्यागे गए विकल्प (alternatives forgone) चाहे वे सुनिश्चित अथवा अंतर्निहित हों, शामिल होते हैं।

अवसर लागत की धारणा को चित्र (*Fig. 23 देखें*) में उत्पादन संभावना वक्र PP_1 द्वारा व्याख्या की गई है। इस वक्र में संयोग A पर फर्म OL_1 श्रम और OK_1 पूँजी का प्रयोग करती है। यदि वह L_1L_2 अधिक

गई है। इस वक्र में संयोग A पर फर्म OL_1 श्रम और OK_1 पूँजी का प्रयोग करती है। यदि वह L_1L_2 अधिक श्रम प्रयोग करना चाहती है तो उसे K_1K_2 पूँजी का त्याग करना पड़ेगा। इस प्रकार L_1L_2 श्रम की अवसर लागत K_1K_2 पूँजी की मात्रा है।

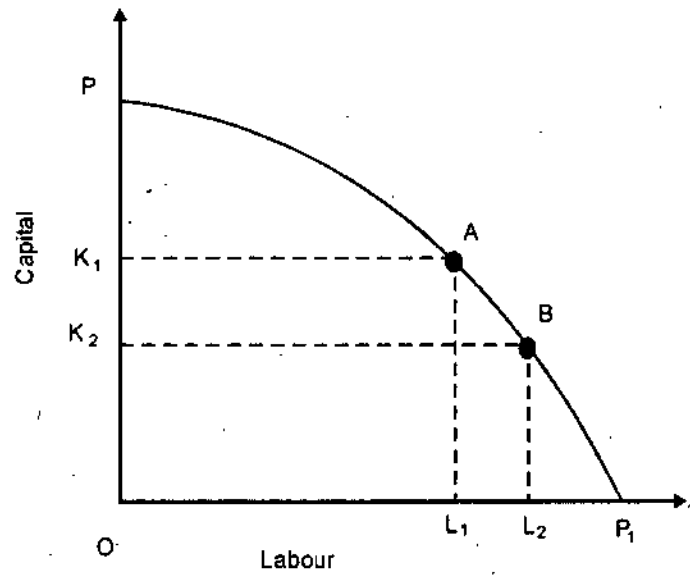

Fig. 23

इसका महत्त्व (Its importance) – अवसर लागत की धारणा का आर्थिक समस्याओं में बहुत व्यवहार होता है। साधन-कीमतों के निर्धारण में यह लागू होती है। उपयोग और सार्वजनिक व्यय में भी इसका व्यवहार किया जा सकता है। सिनेमा देखने की लागत वह पैन है जिसे खरीदने से विद्यार्थी को वंचित रहना पड़ता है। समाज के लिए, हथियारों की फैक्टरी की लागत नागरिकों के वे लाभ हैं जिनका त्याग करना पड़ता है। अन्तिम, अवसर लागत कीमत की तथ्य की व्याख्या करती है क्योंकि वस्तुएँ और साधन सेवाएँ दुर्लभ हैं, उनका वैकल्पिक नहीं होंगे जिनका त्याग किया जाए, इसलिए ना ही अवसर लागत और ना ही कीमत होगी।

इसकी सीमाएँ (Its Limitations) – फिर भी अवसर लागत की धारणा कुछ सीमाओं से मुक्त नहीं है। प्रथम, यह उन साधन सेवाओं पर लागू नहीं होती जो स्थिर हैं। किसी निश्चित या स्थिर साधन का कोई विकल्प नहीं होता, इसलिए इसकी अवसर लागत शून्य है। दूसरे, यदि साधनों की गति रोक दी जाए, या वे अन्य विकल्पात्मक व्यवसायों में जाने को तैयार न हों, तो उनकी कीमतों में अवसर लागत नहीं झलकती। तीसरे, एक व्यक्ति और समाज की लागतों में अन्तर हो सकता है। नगर के बीच में एक धुएँ वाली फैक्टरी का वैकल्पिक त्याग, स्वास्थ्य संकट के रूप में बहुत अधिक हो सकता है जिसका मुद्रा माप संभव नहीं। चौथे, त्यागे हुए विकल्प प्रायः स्पष्ट रूप से भी नहीं जाने जा सकते। यदि विकल्प आसानी से जाने जा सकें तब तो कोई समस्या ही नहीं। यदि साधन सघन हों क्योंकि आधुनिक जटिल उत्पादन व्यवस्था में, तो एक बार लगाए जाने के बाद उनका कोई वैकल्पिक प्रयोग नहीं हो सकता। टिकाऊ पूँजी उपकरणों की कोई अवसर लागत नहीं होती। परन्तु इसकी गति उस वस्तु की कीमत में प्रवेश नहीं करती जिसका उत्पादन करने में यह सहायक है। अन्तिम, यह पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है जो वास्तव में नहीं पाई जाती है।

निजी और सामाजिक लागतें (Private and Social Costs)

निजी और सामाजिक लागतों की धारणा का प्रयोग सर्वप्रथम पीगू (Pigou) ने अपनी पुस्तक में किया था। निजी लागतें एक फर्म द्वारा एक वस्तु या सेवा के उत्पादन पर किया गया खर्च है। इनमें सुनिश्चित और

अंतर्निहित दोनों प्रकार की लागतें शामिल होती है। फिर भी, एक फर्म की उत्पादन क्रियाएँ, दूसरों के लिए आर्थिक लाभ अथवा हानि ला सकती है। उदाहरणार्थ, स्टील, रबड़ और रसायन जैसी वस्तुओं का उत्पादन वातावरण को प्रदूषित करता है जिससे सामाजिक लागतें होती हैं। दूसरी ओर, शिक्षा, सफाई, पार्क आदि की सेवाओं का निर्माण सामाजिक लाभ लाता है। उदाहरणार्थ, शिक्षा को ही लीजिए, जो न केवल प्राप्तकर्ताओं को ऊँची आय और अन्य संतुष्टियाँ प्रदान करती है बल्कि समाज को अधिक प्रबुद्ध (enlightened) शहरी भी प्रदान करती है। यदि हम उत्पादन को निजी लागतों और वातावरणीय प्रदूषण जैसी दूसरों पर हानियों को इकट्ठा जोड़ दे तो हमें सामाजिक लागतें प्राप्त होंगी।

लागत फलन (The Cost Function)

लागत फलन कुल लागत और उस निर्धारण करने वाले तत्त्वों के बीच फलनात्मक संबन्ध को व्यक्त करता है। प्रायः वे तत्त्व जो एक फर्म के उत्पादन की कुल लागत (C) को निर्धारित करते हैं, वे हैं : उत्पादन (Q) प्रौद्योगिकी का स्तर (T), साधनों की कीमतें (P_f) और स्थिर साधन (F) इस प्रकार लागत फलन बन जाता है,

$$C = f(Q, T, P_f, F)$$

ऐसे विस्तृत लागत फलन के लिए बहु-आयामी चित्रों की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें खींचना बहुत कठिन है।

लागत फलन के विश्लेषण को सरल बनाने के लिए कुछ मान्यताएँ ली जाती हैं। यह मान लिया जाता है कि फर्म केवल एक अकेली समरूप वस्तु (q) का कुछ उत्पादन के साधनों की सहायता से उत्पादन करती है। अल्पकाल में फर्म का उत्पादन स्तर चाहे कुछ भी हो, इनमें से कुछ साधन स्थिर मात्राओं में लगाए जाते हैं। इसलिए वे दिए हुए मान लिए जाते हैं। बाकी के साधन परिवर्तनशील हैं जिनकी पूर्ति का ज्ञान है और वे स्थिर मार्किट कीमतों पर उपलब्ध हैं। आगे, वस्तु के उत्पादन के लिए जो प्रौद्योगिकी प्रयोग की जाती है, उसका ज्ञान होता है और वह स्थिर मान ली जाती है। अन्तिम, यह मान लिया जाता है कि फर्म परिवर्तनशील साधनों को इस प्रकार समायोजित (adjust) करती है कि वस्तु q का दिया हुआ उत्पादन Q, न्यूनतम लागत C पर प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ लागत फलन ऐसे व्यक्त किया जाता है,

$$C = f(Q)$$

जिसका मतलब है कि कुल लागत (C) उत्पादन (Q) का फलन, (f) है, अन्य साधनों को स्थिर मानते हुए।

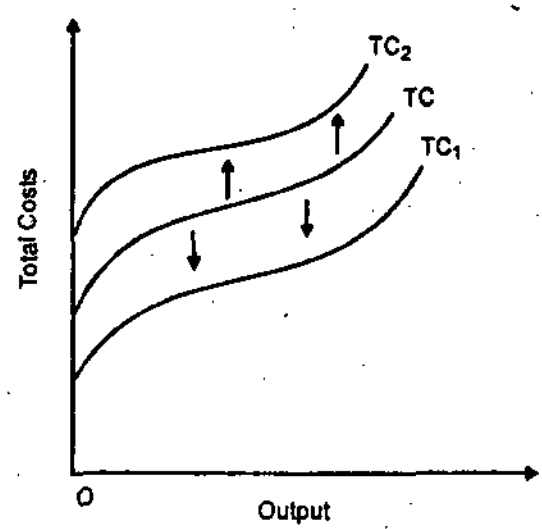

Fig. 24

लागत फलन को चित्र *Fig. 24* में एक कुल लागत (TC) वक्र द्वारा दिखाया जाता है। उत्पादन को समानांतर अक्ष पर और कुल लागत को अनुलंब अक्ष पर लेकर TC वक्र खींचा जाता है, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। यह एक निरंतर वक्र है जिसकी आकृति यह दर्शाती है कि उत्पादन के बढ़ने के साथ कुल लागत भी बढती है। कुल लागत फलन और TC वक्र, दी हुई शर्तों के अन्तर्गत, उत्पादन के साथ कुल लागत का संबंध बतलाते हैं। परन्तु यदि दी हुई शर्तों में से कोई एक जैसे उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन होता है, तो लागत फलन बदल जाता है। उदाहरणार्थ, यदि उत्पादन की तकनीक में सुधार होता है, तो एक दी हुई उत्पादन की मात्रा के लिए उत्पादन की लागत पहले से कम होगी जो नए लागत वक्र TC_1 को पुराने वक्र TC के नीचे सरका देगी, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। दूसरी ओर, यदि साधनों की कीमतें बढ़ जाती हैं, तो उत्पादन लागत में वृद्धि होगी, जो लागत वक्र TC को ऊपर की ओर TC_2 पर सरका देगी, जैसाकि चित्र में है।

लागत फलन अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में पाया जाता है। अल्पकालीन लागतें वे उत्पादन लागतें होती हैं जिन पर एक फर्म एक दी हुई अवधि में कार्य करती है। जब एक या अधिक उत्पादन के साधनों की मात्राएँ स्थिर होती हैं। इसलिए फर्म की कुछ स्थिर लागतें और कुछ परिवर्तनशील लागतें होती हैं। दूसरी ओर, "दीर्घकालीन लागतें नियोजन लागतें अथवा प्रत्याशित लागतें होती हैं, इसलिए कि वह उत्पादन के प्रसार के लिए इष्टतम संभावनाएँ प्रस्तुत करती हैं और इस प्रकार उद्यमी को अपनी भावी क्रियाओं को नियोजित करने में सहायक होती हैं।" दीर्घकाल में, उत्पादन के स्थिर साधन बिल्कुल नहीं होते हैं और इसलिए न ही स्थिर लागतें होती हैं। दीर्घकाल में, सभी साधन परिवर्तनशील होने के कारण, सभी लागतें परिवर्तनशील होती हैं। इसलिए फर्म के स्थिर पूँजी साधन दिए होने पर, वह भविष्य के लिए नियोजन करती है। परन्तु वह प्रत्येक प्लांट से संबंधित अल्पकालीन लागत वक्रों पर संचालन करती है।

लागत फलन दिए होने पर, हम लागतों के परंपरागत और आधुनिक सिद्धांतों की विवेचना करते हैं।

3.9 लागतों का परंपरागत सिद्धांत (The Traditional Theory of Costs)

लागतों का परंपरागत सिद्धांत अल्पकाल और दीर्घकाल में लागत वक्रों के व्यवहार का विश्लेषण करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अल्पकालीन और दीर्घकालीन लागत वक्र U- आकार के होते हैं लेकिन *दीर्घकालीन लागत वक्र अल्पकालीन लागत वक्रों की अपेक्षा चपटे होते हैं।*

फर्म के अल्पकालीन लागत वक्र (Firm's Short-Run Costs Curves)

अल्पकालीन वह समय होता है जिसमें फर्म अपनी मशीनें, उपकरण और उत्पादन के पैमाने को परिवर्तित नहीं कर सकती। बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए, फर्म अपने उत्पादन को अधिक श्रम और कच्चा माल लगाकर या वर्तमान श्रम शक्ति से अधिक समय काम कराकर ही बढ़ा सकती हैं।

उत्पादन का पैमाना स्थिर होने के कारण, अल्पकालीन कुल लागतें (TC) कुल स्थिर लागतों (TFC) और कुल परिवर्तनशील लागतों (TVC) में विभक्त की जाती हैं :

$$TC = TFC + TVC$$

कुल लागतें (Total costs) – कुल लागतें एक वस्तु की दी हुई मात्रा को उत्पादित करने में एक फर्म के कुल खर्चे हैं। उनमें लगान, ब्याज, मजदूरी, कर, कच्चे माल, बिजली, पानी, विज्ञापन आदि के खर्च शामिल होते हैं।

कुल स्थिर लागतें (Total Fixed Costs) – ये उत्पादन की वे लागतें हैं जो उत्पादन के साथ परिवर्तित नहीं होती हैं। वे उत्पादन के स्तर से स्वतंत्र होती है। वास्तव में, फर्म को ये लागते उठानी ही पड़ती हैं, यदि फर्म थोड़े समय के लिए उत्पादन बंद भी कर देती है। इनमें भूमि और बिल्डिंग लगान पर लेने, उधार ली गई

NOTES

मुद्रा पर ब्याज, इंश्योरैंस, सम्पत्ति कर, मूल्यह्रास, स्थायी स्टाफ की मजदूरी और वेतन, आदि भुगतान शामिल होते हैं। इन्हें ऊपरी लागतें (overhead costs) भी कहते हैं।

कुल **परिवर्तनशील लागतें (Total Variable Costs)** – वे लागतें हैं जो उत्पादन के साथ सीधे तौर से बदलती हैं। वे उत्पादन के बढ़ने के साथ बढती हैं और उत्पादन के कम होने के साथ कम होती हैं। उनमें कच्चे माल, बिजली, पानी, कर अस्थायी श्रम का नियोजित करना, विज्ञान आदि के खर्चे शामिल होते हैं। उन्हें प्रत्यक्ष लागतें (direct costs) भी कहते हैं।

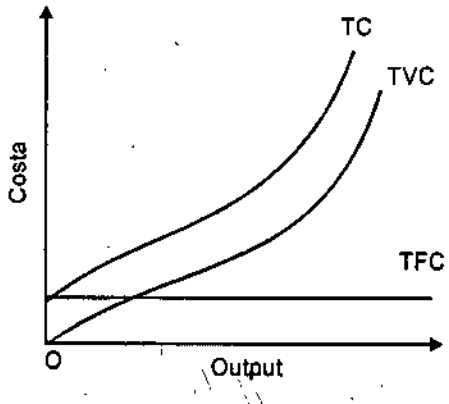

Fig. 25

इन तीनों लागतों से संबंधित लागत वक्र को चित्र (*Fig. 25 देखें*) में दिखाया गया है। TC एक निरंतर वक्र है जो यह दर्शाता है कि उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ कुल लागते बढ़ती हैं। यह वक्र अनुलंब अक्ष को मूल से ऊपर एक बिन्दु पर काटता है। और बाएँ से दाएँ ऊपर को निरंतर बढ़ता है। ऐसा इस कारण कि जब फर्म कुछ भी उत्पादन नहीं करती, उसे स्थिर लागतें उठानी पड़ती हैं। TFC वक्र को उत्पादन अक्ष के समानांतर दिखाया गया है क्योंकि कुल स्थिर लागतें प्रत्येक उत्पादन स्तर पर समान रहती हैं। TVC वक्र उलटा S- आकार का होता है और मूल O से आरंभ होता है, क्योंकि जब उत्पादन शून्य है तो कुल परिवर्तनशील लागतें भी शून्य होती हैं। उत्पादन के बढ़ने के साथ वे अनुपात में परिवर्तनशील साधन कम प्रयोग करती है, कुल परिवर्तनशील लागतें घटती दर से बढती हैं। परन्तु एक बिन्दु के बाद स्थिर साधनों के अनुपात में परिवर्तनशील साधनों के अधिक प्रयोग से, वे तीव्रता से बढ़ती हैं। ऐसा परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के लागू होने से होता है। क्योंकि TFC वक्र समानांतर सीधी रेखा है, इसलिए TVC वक्र के साथ-साथ TC वक्र समान अनुलंब अंतर पर चलता है

अल्पकालीन औसत लागतें (Short-Run Average Costs)

फर्म के अल्पकालीन विश्लेषण में, कुल लागतों से औसत लागतें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उत्पादन की जो इकाइयाँ फर्म उत्पादित करती है वे उसे समान लागत की मात्रा पर प्राप्त नहीं होती हैं। परन्तु उन्हें समान कीमत पर बेचना पड़ता है। इसलिए फर्म को प्रति इकाई लागत या औसत लागत का जानना बहुत जरूरी है। फर्म की अल्पकालीन औसत लागतों में औसत स्थिर लागतें, औसत परिवर्तनशील लागतें और औसत कुल लागतें शामिल होती हैं।

औसत स्थिर लागतें (Average Fixed Costs) – औसत स्थिर लागतें कुल स्थिर लागतों को कुल उत्पादन से विभक्त करने पर प्राप्त होती हैं : $AFC = TFC/Q$

क्योंकि उत्पादन के सब स्तरों पर कुल स्थिर लागतें उतनी ही रहती हैं, उत्पादन के बढ़ने पर औस

स्थिर लागतें कम हो जाती हैं। इसलिए AFC वक्र की ढलान नीचे की दाएँ को होती है और वह आयताकार अतिपखलय (rectangular hyperbola) होता है जैसाकि चित्र में दिखाया गया है।

अल्पकालीन औसत परिवर्तनशील लागतें (Short-Run Average Variable Costs) – औसत परिवर्तनशील लागत, कुल परिवर्तनशील लागत को कुल उत्पादन से विभक्त करने पर प्राप्त होती है :

$$SAVC = TVC/Q$$

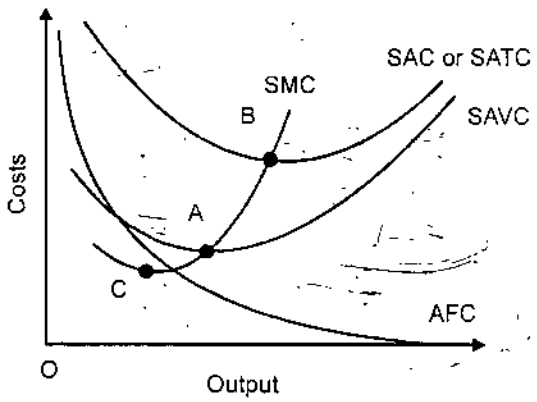

Fig. 26

औसत परिवर्तनशील लागतें उत्पादन के बढ़ने के साथ पहले कम होती हैं, जब परिवर्तनशील साधनों की अधिक मात्राएँ स्थिर प्लांट और उपकरणों पर लागू की जाती हैं। परन्तु अन्ततः वे घटते प्रतिफल के नियम के कारण बढ़ना प्रारंभ कर देती हैं। इसलिए SAVC वक्र U – आकार का होता है, जैसाकि चित्र (*Fig. 26 देखें*) में दर्शाया गया है।

अल्पकालीन कुल औसत लागतें – SAC या SATC किसी दी हुई उत्पादन मात्रा को उत्पादित करने की औसत लागतें हैं। यदि उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर कुल लागतों को उत्पादित की गई वस्तु की इकाइयों से विभक्त कर दें तो ये प्राप्त होती हैं :

$$\text{SAC या SATC} = \frac{TC}{Q} = \frac{TFC}{Q} + \frac{TVC}{Q} = AFC + AVC$$

इस प्रकार, कुल औसत लागतें औसत स्थिर लागतों तथा औसत परिवर्तनशील लागतों का जोड़ हैं और उनके प्रभाव को व्यक्त करती हैं। पहले, उत्पादन के कम स्तरों पर औसत कुल लागतें ऊँची होती हैं, क्योंकि औसत स्थिर और औसत परिवर्तनशील लागतें दोनों ही अधिक होती हैं। परन्तु जब उत्पादन बढ़ता है तो औसत कुल लागतें तीव्रता से गिरती हैं। ऐसा औसत स्थिर लागतें और औसत परिवर्तनशील लागतों में नियमित कमी के कारण होता है, जब तक कि वे न्यूनतम बिन्दु पर नहीं पहुँच जाती हैं। यह आंतरिक किफायतों, वर्तमान प्लांटो, श्रम के बेहतर प्रयोग आदि के परिणामस्वरूप होता है। चित्र में न्यूनतम बिन्दु B इष्टतम क्षमता को व्यक्त करता है। जब उस बिन्दु के बाद उत्पादन बढ़ता है, तो औसत कुल लागतें तीव्रता से बढ़ती हैं, क्योंकि बढ़ रही औसत परिवर्तनशील लागतों में वृद्धि की तुलना में औसत स्थिर लागतों में कमी मामूली-सी होती है। SAC वक्र का ऊपर की ओर गति करता भाग क्षमता से अधिक उत्पादन और प्रबंध, श्रम आदि की आंतरिक अमितव्ययिताओं के परिणामस्वरूप होता है। इस प्रकार SAC वक्र U-आकार का है, जैसाकि चित्र (*Fig. 27 देखें*) से स्पष्ट है।

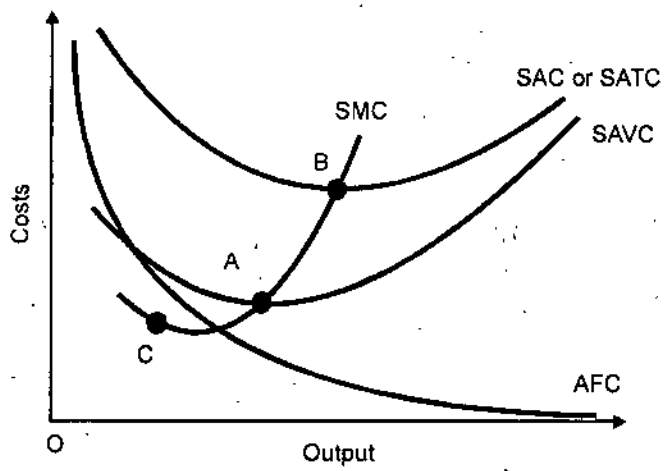

Fig. 27

SAC वक्र की U- आकृति की व्याख्या परिवर्तनशील अनुपात के नियम द्वारा भी की जाती है। यह नियम बताता है कि जब अन्य साधनों की मात्रा को स्थिर रखकर, एक परिवर्तनशील साधन की मात्रा को बढाया जाए तो कुल उत्पादन बढ़ता है परन्तु एक निश्चित सीमा के बाद घटता चला जाता है अल्पकालीन में किसी भी फर्म की मशीनें, उपकरण और उत्पादन का पैमाना परिवर्तित नहीं होते, इसलिए ये इसके स्थिर साधन हैं। जबकि श्रम, कच्चा माल जैसे साधन परिवर्तशील होते हैं। स्थिर साधनों पर इन परिवर्तनशील साधनों की मात्रा को लगातार बढाते चले जाने से ही, परिवर्तनशील अनुपात का नियम लागू होता है। जब एक परिवर्तनशील साधन जैसे श्रमिकों की मात्रा को समान इकाइयों में बढाया जाता है तो एक सीमा तक उत्पादन बढता है, जब तक कि मशीनों, उपकरणों आदि स्थिर साधनों का उनकी पूरी क्षमता तक प्रयोग नहीं होता। इस अवस्था में उत्पादन बढ़ने के साथ फर्म की औसत लागतें कम होती जाती हैं। क्योंकि उसे कई प्रकार की आन्तरिक किफायतों के कारण भी बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं। बढ़ते प्रतिफल के नियम की क्रियाशीलता के कारण श्रमिकों की संख्या को और बढ़ाने से फर्म मशीनों की इष्टतम क्षमता पर जब पहुँचती है तो उसका उत्पादन भी इष्टतम होता है और इसी स्तर पर औसत लागत न्यूनतम होगी जो चित्र में SAC वक्र का न्यूनतम बिन्दु B दर्शाती है। इस अवस्था के बाद यदि फर्म श्रमिकों की संख्या को और बढ़ाने का प्रयत्न करती है तो मशीनों, उपकरणों व प्रबन्ध आदि स्थिर साधनों का क्षमता से अधिक प्रयोग होगा जिससे आन्तरिक अलाभों के कारण घटते प्रतिफल प्राप्त होंगे और औसत लागतें तीव्र गति के साथ बढ़ती चली जाएँगी। अतः फर्म में परिवर्तनशील अनुपात का नियम लागू होने के कारण भी अल्पकालीन औसत लागत वक्र U- आकृति का होता है।

सीमान्त लागत (MC) – फर्म के उत्पादन के सही स्तर को निर्धारित करने की आधारभूत धारणा सीमान्त लागत है। $MC = \Delta TC/\Delta Q$. बीजगणित से, यह उत्पादन की $n + 1$ इकाइयों और n इकाइयों की लागतों का अन्तर होती है, $MC_n = TC_n - TC_{n-1}$. क्योंकि कुल स्थिर लगातें उत्पादन के साथ नहीं बदलतीं, इसलिए सीमांत स्थिर लागत शून्य होती है। इसलिए सीमान्त लागत को कुल परिवर्तनशील लागतों अथवा कुल लागतों से गणना की जा सकती है दोनों तरह से परिणाम समान ही होगा। क्योंकि कुल परिवर्तनशील लागतें या कुल लागतें पहले गिरती हैं और फिर बढ़ती हैं, इसलिए सीमान्त लागत भी इसी प्रकार व्यवहार करती है और SMC वक्र भी U- आकार का होता है, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है।

अल्पकालीन लागत वक्रों में संबंध (Relationships of Short-Run Cost Curves)

अल्पकालीन लागत वक्रों के बीच संबंधों को चित्र द्वारा व्यक्त किया गया है

(क) AFC वक्र निरंतर गिरता जाता है और दोनों अक्षों से समान दूरी पर गति करता है परन्तु X- अक्ष अथवा Y- अक्ष को छूता नहीं है। यह अतिपरवलयाकार (rectangular hyperbola) है।

(ख) SAVC वक्र पहले गिरता है फिर A बिन्दु पर न्यूनतम होता है और उसके पश्चात् बढ़ता है। जब SAVC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु A पर पहुँचता है, तो SMC वक्र उसके बराबर होता है, अर्थात् उस बिन्दु पर काटता है।

(ग) SAC वक्र पहले गिरता है, न्यूनतम बिन्दु B पर पहुँचता है और उसके बाद ऊपर की ओर बढ़ता है। जब SAC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु B पर पहुँचता है तो SMC वक्र उसके बराबर होला है, क्योंकि SAC = AFC + SAVC, इसलिए SAC और SAVC वक्रों के बीच अनुलंब दूरी AFC वक्र होती है। अतः अलग से एक AFC वक्र खींचने की कोई आवश्यकता नहीं है। जब उत्पादन कम होता है, तो SAC और SAVC वक्रों के बीच की अनुलंब दूरी कम होती जाती है, क्योंकि AFC वक्र निरंतर गिरता है।

(घ) *AC और MC वक्रों में संबंध (Relation between AC and MC Curves)* – AC और MC वक्रों में सीधा संबंध होता है। AC और MC वक्र दोनों U- आकार के होते हैं, जैसाकि चित्र में दिखाया गया है। जब AC वक्र गिरता है तो AC वक्र से MC वक्र नीचे होता है। ऐसा इसलिए कि MC में कमी उत्पादन की एक इकाई से संबंधित होती है, जबकि AC के बारे में वही कमी उत्पादन की सभी इकाइयों में फैलती है। यह कारण है कि AC में कमी कम होती है और MC में अधिक। यह इस तथ्य की भी व्याख्या करता है कि AC वक्र के अपने न्यूनतम बिन्दु B पर पहुँचने से पहले MC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु C पर पहुँचता है। अतः जब MC वक्र ऊपर को बढ़ना प्रारंभ करता है तो AC वक्र अभी गिर रहा होता है।

जब AC वक्र अपने न्यूनतम बिन्दु पर होता है, तो MC वक्र उसके बराबर होता है और उसे नीचे से उसके न्यूनतम बिन्दु B पर काटता है, जैसा कि चित्र (*Fig. 28 देखें*) से स्पष्ट है।

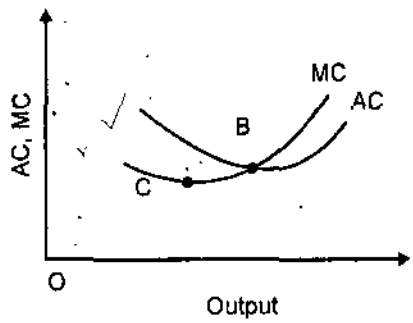

Fig. 28

जब AC वक्र ऊपर की ओर बढ़ रहा होता है, तो MC वक्र उससे ऊपर होता है परन्तु MC वक्र में वृद्धि AC वक्र से अधिक होती है। ऐसे में वृद्धि AC वक्र से अधिक होती है। ऐसा इसलिए कि MC में वृद्धि उत्पादन की एक इकाई के कारण होती है, जबकि AC के लिए वही वृद्धि उत्पादन की सभी इकाईयों में फैलती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि जब AC बढ़ती या कम होती है, तो हम MC वक्र की दिशा के बारे में कुछ नहीं कर सकते। जब AC कम हो रही होती है, तो यह आवश्यक नहीं कि MC भी अवश्य कम हो। MC बढ़ या कम हो सकती है, पर यह निश्चित है कि AC वक्र से MC वक्र नीचे होगा। इसी प्रकार, जब AC बढ़ रही होती है, तो यह आवश्यक नहीं कि MC भी अवश्य बढ़े। MC बढ़ या कम हो सकती है लेकिन यह निश्तित

NOTES

है कि MC वक्र AC वक्र से ऊपर होगा। परन्तु यदि AC स्थिर है तो MC अवश्य स्थिर होगी, अर्थात् AC और MC वक्र एक समानांतर रेखा होगा।

AC और MC में यह संबंध अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में लागू होगा। दोनों अवस्थाओं में केवल AC और MC वक्रों के आकार में अंतर होगा।

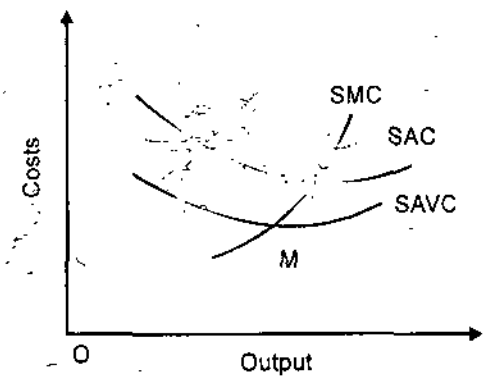

Fig. 29

SMC और SAVC वक्रों में संबंध (Relation between SMC and SAVC Curves) – SMC वक्र का AVC और SAC वक्रों के साथ निकट का संबंध है। जब तक SMC वक्र SAVC और SAC वक्रों के नीचे स्थित होता है, यह गिरता जाता है और इसकी गिरने की दर SAVC और SAC वक्रों की दर से अधिक होती है। परन्तु जहाँ MC वक्र उनको काटता है उन बिन्दुओं से SAVC और SAC वक्र ऊपर की ओर बढ़ने लगते हैं जैसा कि चित्र में क्रमशः बिन्दु M और L हैं। ये दोनों वक्रों के न्यूनतम बिन्दु हैं। परन्तु AVC वक्र का न्यूनतम बिन्दु M, वक्र SAC के न्यूनतम बिन्दु L के बाई ओर हैं जिसमें से SMC वक्र पहले गुजरता है। इसका कारण यह है कि SAV \ SAVC + AFC इसलिए जब SAVC अपने न्यूनतम बिन्दु पर होती है तो AFC कम हो रही होती है और SAC को अपने न्यूनतम बिन्दु तक पहुचंने में समय लगता है। इस तरह M और L क्रमशः SAVC और SAC वक्रो के न्यूनतम बिन्दु हैं। इन बिन्दुओं के बाद SMC वक्र तेजी के साथ ऊपर की ओर बढ़ता है और SAVC और SAC वक्रों से ऊपर होता है। (*Fig. 30 देखें*)

निष्कर्ष : इस प्रकार, एक फर्म के अल्पकालीन वक्र SAVC, AFC, SAC और SMC होते हैं। इन चार वक्रों में से AFC वक्र फर्म के उत्पादन स्तर को निर्धारण करने में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। यही कारण है कि इसकी लागत विश्लेषण में उपेक्षा की जाती है।

फर्म के दीर्घकालीन लागत वक्र (Firm's Long-Run Cost Curves)

दीर्घकाल में उत्पादन के स्थिर साधन नहीं होते हैं, इसलिए स्थिर लागतें भी नहीं होती हैं, फर्म अपने प्लांट का आकार या पैमाना बदल सकती है और कम अथवा अधिक साधन लगा सकती है। इस तरह दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। अतः सभी लागतें परिवर्तनशील हैं।

LAC वक्र – फर्म का दीर्घकाल औसत कुल लागत या LAC वक्र सभी संभव अल्पकालीन औसत लागत वक्रों (SAC) से उत्पादन के विभिन्न स्तरों को उत्पादित करने की न्यूनतम औसत लागत को दर्शाता है। अतः SAC वक्रों से LAC वक्र को व्युत्पन्न किया जाता है। LAC वक्र को इस प्रकार समझा जा सकता है: यह एक वैकल्पिक अल्पकालीन स्थितियों की शृंखला है, जिनमें से फर्म किसी एक में जा सकती है। प्रत्येक SAC वक्र एक विशेष आकार के प्लांट को व्यक्त करता है जो उत्पादन की एक विशेष रेंज के लिए उपयुक्त है। इसलिए फर्म, विभिन्न प्लांटों का उस स्तर तक ही प्रयोग करेगी, जहाँ तक उत्पादन में वृद्धि के साथ अल्पकालीन औस

लागतें कम होती जाएंगी। वह फर्म सब प्लांटों को इकट्ठा प्रयोग करके उत्पादन की न्यूनतम अल्पकालीन औसत लागत के स्तर के बाद और उत्पादन नहीं करेगी।

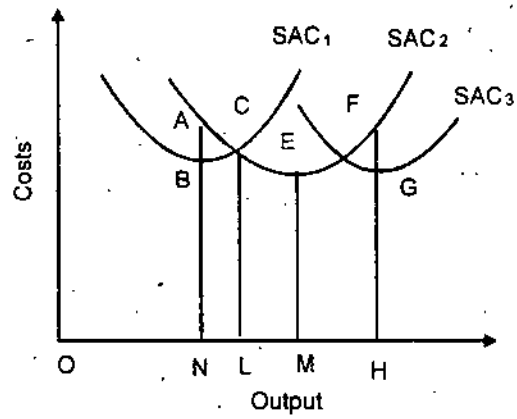

Fig. 30

मान लीजिए कि फर्म के तीन प्लांट हैं जिन्हें SAC_1, SAC_2 और SAC_3 वक्रों द्वारा चित्र में व्यक्त किया गया है। प्रत्येक वक्र फर्म के पैमाने को प्रकट करता है। SAC_1 छोटे पैमाने की सूचना देता है जबकि SAC_2 वक्र से SAC_3 पर जाना यह बताता है कि फर्म का आकार बढ़ गया है। (*Fig. 30 देखें*)

फर्म का यह पैमाना दिए होने पर, वह उत्पादन की प्रति-इकाई की न्यूनतम लागत तक उत्पादन करेगी। उत्पादन की ON मात्रा के लिए फर्म SAC_1 या SAC_2 प्लांट का प्रयोग कर सकती है। पर फर्म SAC_1 द्वारा प्रकट किए गए प्लांट का प्रयोग करेगी क्योंकि उत्पादन की ON मात्रा के उत्पादन की औसत लागत NB है जो इस मात्रा के SAC_2 प्लांट पर उत्पादन की लागत NA से कम है। यदि फर्म को उत्पादन की OL मात्रा का उत्पादन करना हो, तो वह दोनों में से किसी एक प्लांट पर उत्पादन करेगी। परन्तु OL उत्पादन के लिए फर्म को SAC_2 प्लांट का प्रयोग करना लाभदायक रहेगा क्योंकि इस प्लांट से निम्नतम औसत लागत ME पर उत्पादन की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा OM प्राप्त की प्लांट की औसत लागत HF से SAC_3 प्लांट की औसत लागत HG कम है। अतः दीर्घकाल में फर्म उत्पादन की किसी भी मात्रा का उत्पादन करने के लिए उस प्लांट का प्रयोग करेगी जिस पर प्रति-इकाई लागत न्यूनतम होती हैं यदि फर्म अपने पैमाने को क्रमशः SAC_1, SAC_2 और SAC_3 वक्रों द्वारा व्यक्त की गई अवस्थाओं में फैलाती है, तो इन वक्रों के गहरी तरंगों जैसे भाग दीर्घकालीन औसत लागत वक्र बनाते हैं। SAC वक्रों के बिन्दुकित भाग दीर्घकालीन में कोई महत्त्व नहीं रखते क्योंकि प्लांटों के इन भागों पर उत्पादन करने की बजाए फर्म प्लांट के पैमाने को बदल देगी।

परन्तु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC को SAC वक्र के साथ जुड़े हुए समतल वक्र के रूप में इस प्रकार दिखाया जाता है कि वह किसी-न-किसी बिन्दु पर उन वक्रों को स्पर्श करे जैसा कि चित्र (*Fig. 31 देखें*) में, जहाँ वक्र SAC_1, SAC_2, SAC_3, SAC_4 और SAC_5 अल्पकालीन औसत लागत वक्र हैं। LAC वक्र इन SAC वक्रों को स्पर्श करता है पर एक वक्र को केवल उसके न्यूनतम बिन्दु पर ही। चित्र में वक्र SAC, के निम्नतम बिन्दु E पर LAC स्पर्श करता है, और OQ इष्टतम उत्पादन है। यह प्लांट SAC_3 जो न्यूनतम लागत QE पर इष्टतम उत्पादन OQ उत्पादित करता है, इष्टतम प्लांट है और जो फर्म इस इष्टतम प्लांट से इष्टतम उत्पादन का न्यूनतम लागत से उत्पादन करती है, इष्टतम् फर्म कहलाती है। यदि फर्म उत्पादन की इष्टतम मात्रा OQ से कम उत्पादन करती है, तो वह अपने प्लांटों को पूरी क्षमता तक नहीं चला रही और यदि OQ से अधिक उत्पादन करती है, तो वह क्षमता से अधिक प्लांटों से चला रही है। दोनों अवस्थाओं में औसत

NOTES

उत्पादन लागत ऊँची होने के कारण फर्म न्यूनतम लागत QE पर ही उत्पादन करेगी। क्योंकि SAC_2 और SAC_4 प्लांटों की औसत उत्पादन लागतें SAC_3 प्लांट से अधिक है।

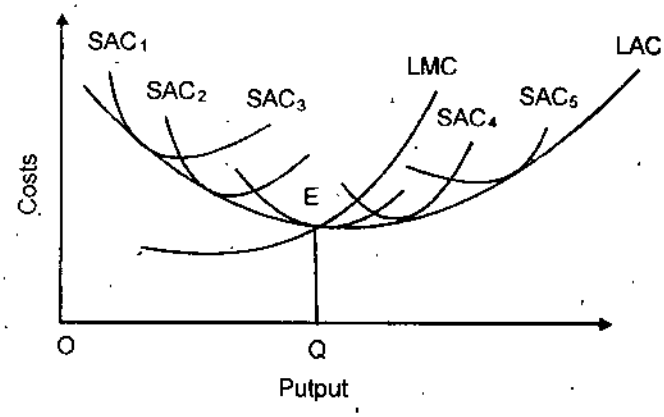

Fig. 31

LAC वक्र को लिफाफा वक्र (envelope curve) कहते हैं क्योंकि यह सब SAC वक्रों को लपेट लेता है। स्टोनियर और हेग के अनुसार, "एक प्रकार से वेष्टन शब्द भ्रामक है। शारीरिक रूप से लिफाफा उस पत्रा से भिन्न होता है जो उसमें है। परन्तु दीर्घकालीन लागत लिफाफा वक्र का हर बिन्दु उन अल्पकालीन लागत वक्रों का भी बिन्दु होता है जिन्हें वह लपेटता है।" प्रोफेसर चैम्बरलेन के अनुसार, "यह प्लांट वक्रों का बना होता है, इसलिए यह प्लांट वक्र है। परन्तु इसे "योजना" वक्र कहना अधिक उचित है क्योंकि दीर्घकाल में फर्म उत्पादन के पैमाने का विस्तार करने की योजना बनाती है।"

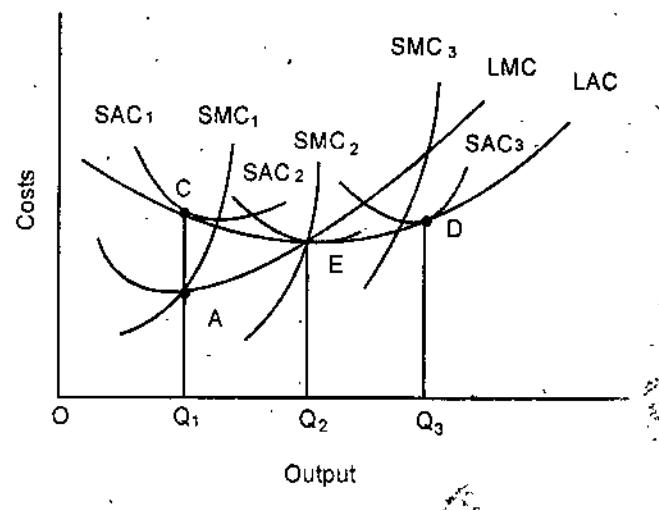

Fig. 32

LMC वक्र – फर्म का दीर्घकालीन सीमांत लागत (LMC) वक्र SAC वक्रों से व्युत्पन्न किया जाता है, जैसाकि चित्र (*Fig. 32 देखें*) में दर्शाया गया है जहाँ SAC_1, SAC_2 और SAC_3 वक्र क्रमशः बिन्दुओं C, E और D पर LAC वक्र द्वारा स्पर्श होते हैं। X- अक्ष पर इन बिन्दुओं से क्रमशः CQ_1, EQ_2 और DQ_3 लंब गिराओं। जब A, E और B बिन्दुओं पर जहाँ SMC_1, SMC_2 और SMC_3 वक्र इन अनुलंब रेखाओं को

काटते हैं, उन्हें मिला दिया जाए तो वे LMC वक्र को ट्रेस करते हैं। SAC_2 और LAC वक्रों को LMC वक्र न्यूनतम बिन्दु E पर काटता है, जिससे LCM - LAC = SAC_2 = SAC_2, इस प्रकार, सीमांत और औसत लागत वक्रों में सामान्य संबंध बनाए जाते हैं। E के बाई ओर LAC > LMC और इसके दाई ओर LMC > LAC.

SAC वक्र की अपेक्षा LAC अधिक चपटा (LAC curve flatter than SAC curve)

यद्यपि LAC वक्र U के आकार का होता है, फिर भी, यह SAC वक्र की अपेक्षा अधिक चपटा होता है। इसका अभिप्राय है कि LAC वक्र पहले धीरे-धीरे नीचे को जाता है और न्यूनतम बिन्दु आने के बाद धीरे–धीरे ऊपर चढ़ता है। व्यक्तिगत साधनों के मितव्ययी प्रयोग, बढ़े हुए विशेषीकरण और तकनीकी रूप से बढ़िया मशीनों और साधनों के प्रयोग से पैमाने की कुछ किफायतें प्राप्त होने के कारण शुरू में LAC वक्र धीरे–धीरे नीचे को ढाले होता है। दीर्घकालीन में पैमाने के प्रतिफल का नियम फर्म के उत्पादन पर लागू होता है जिसके कारण प्रारम्भ में उत्पादन के साधनों की अविभाज्यता साधनों से उनकी अधिकतम क्षमता के अनुसार काम लिया जाता है जिससे प्रति इकाई लागत कम होती है। चैम्बरलेन ऊपर व्यक्त किए गए कॉलडर और जॉन राबिन्सन की अविभाज्यता की धारणा को स्वीकार नहीं करता। वह विशेषीकरण और श्रम-विभाजन को पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का कारण मानता है। जब फर्म के पैमाने का विस्तार होता है तो श्रम और उपकरणों का विशेषीकरण बढ़ जाता है। काम छोटे–छोटे भागों में बाँटा जाता है और श्रमिक, प्रक्रियाओं के छोटे क्षेत्रों की ओर ध्यान दे सकते हैं। इसके लिए विशेषीकृत उपकरण लगाए जाते हैं और दक्षता बढ़ती है जिससे पैमान का प्रतिफल बढता है और औसत लागत कम होती है। इतना ही नहीं, *फर्म बाहरी किफायतों के कारण भी पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का उपभोग करती है।* जब दीर्घकालीन में उद्योग का विस्तार होता है जो बहुत–सी बाहरी किफायतें प्रकट होती हैं जिनका उद्योग की सभी फर्में बाँटकर उपभोग करती हैं जैसे कुशल श्रम, उधार, परिवहन आदि की सुविधाएँ जिनसे प्रति इकाई दीर्घकालीन लागत कम होती जाती है।

जब दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिन्दु आ जाता है तो उसके बाद उत्पादन के पैमाने के विस्तार के साथ उत्पादन के लिए निश्चित क्षेत्र में LAC वक्र चपटा हो जाता है। तब मितव्ययिताएँ और अमितव्ययिताएँ एक-दूसरे को संतुलित करती हैं और LAC वक्र का आधार डिस्क–आकार हो जाता है। पैमाने का और विस्तार होने पर तालमेल, प्रबन्ध, श्रम और यातायात की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे LAC वक्र बढ़ती है शुरू कर देता है। कॉलडर के अनुसार ऐसा तब होता है जब उत्पादन के पैमाने के बहुत अधिक बढ़ने से अविभाज्य साधन दक्षतारहित और कम उत्पादक बन जाते हैं। जबकि चैम्बरलेन का यह कथन है कि प्रबन्ध और नियन्त्रण की कठिनाइयाँ उत्पन्न होने से प्रति इकाई लागत बढती है। इन आन्तरिक अमितव्ययिताओं के साथ बाहरी अमितव्ययिताएँ भी मिल जाती हैं जो ऊँची साधन कीमतों या साधनों की घटती उत्पादकता से उत्पन्न होती हैं। जब उद्योग का विस्तार जारी रहता है तो प्रशिक्षित श्रम, पूँजी आदि की माँग बढ़ जाती है। जिससे मजदूरी, ब्याज, लगान आदि बढ़ते हैं। कच्चे माल की कीमतें भी चढ़ जाती हैं। यातायात और मार्किटिंग की समस्या भी पैदा हो जाती हैं। इन सब कारणों से जब पैमाने की प्रतिफल घटता है तो लागतें बढ़ने लगती हैं। दोनों में से हर स्थिति में LAC वक्र SAC वक्र की अपेक्षा अधिक धीरे गिरता या चढ़ता है क्योंकि दीर्घकालीन में सब लागतें परिवर्तनशील बन जाती हैं और *स्थिर लागत कोई नहीं होती। प्लांट और उपकरण बदल तथा उत्पादन के अनुरूप* बनाए जा सकते हैं। वर्तमान साधनों को पूरी तरह और अधिक दक्षता से काम में लाया जा सकता है जिसके कारण अल्पकालीन की अपेक्षा दीर्घकालीन में औसत स्थिर तथा औसत परिवर्तन दोनों ही लागतें कम होती हैं। यही कारण है कि SAC वक्र की अपेक्षा LAC वक्र अधिक चपटा होता है।

NOTES

इसी प्रकार, SMC वक्र की अपेक्षा LMC वक्र अधिक चपटा होता है क्योंकि सब लागतें परिवर्तनशील होती हैं और स्थिर लागत कोई नहीं होती है।। अल्पकालीन में सीमान्त लागत स्थिर और परिवर्तनशील दोनों लागतों से सम्बन्धित होती है। परिणामस्वरूप SMC वक्र LMC वक्र की अपेक्षा अधिक तेजी से गिरता और चढता है। LMC वक्र का LAC वक्र से सामान्य सम्बन्ध ही होता है। यह पहले गिरता है और LAC वक्र से सामान्य सम्बन्ध ही होता है। यह पहले गिरता है और LAC वक्र के नीचे होता है। फिर चढता है और LAC वक्र को न्यूनतम बिन्दु E पर काटता है और फिर सदैव LAC वक्र सें ऊपर रहता है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

3.10 लागतों का आधुनिक सिद्धांत (THE MODERN THEORY OF COSTS)

लागतों का आधुनिक सिद्धांत लागतों के परंपरागत सिद्धांत से लागत वक्रों के आकार में भिन्न है। परंपरागत सिद्धांत में, लागत वक्र U- आकार के होते हैं। परन्तु आधुनिक सिद्धांत में जो आनुभविक प्रमाणों पर आधारित हैं। SAVC वक्र और SMC वक्र एक दूसरे के साथ मेल खाते हैं और उत्पादन के एक विस्तृत रेंज पर एक समानांतर सीधी रेखा होते हैं। जहाँ तक LAC और LMC वक्रों की बात है, वे U- आकार की बजाए L- आकार के होते हैं। हम अल्पकालीन और दीर्घकालीन लागत वक्रों की प्रकृति की विवेचना करते हैं।

1. अल्पकालीन लागत वक्र – परंपरागत सिद्धान्त की तरह, लागतों के आधुनिक सिद्धान्त में AFC, SAVC, SAC और SMC अल्पकालीन लागत वक्र होते हैं। वे भी कुल लागतों से व्युत्पन्न किए जाते हैं जो कुल स्थिर लागतों और कुल परिवर्तनशील लागतों में विभाजित होती हैं।

परन्तु आधुनिक सिद्धांत में, SAVC और SMC वक्रों की U- आकृति न होकर तश्तरी या कटोरा आकृति होती है। क्योंकि AFC वक्र आयताकार अतिपरवलय होता है, इसलिए SAC वक्र की आकृति आधुनिक व्याख्या में भी U- आकार की होती है। अर्थशास्त्रियों ने SAC वक्रों के इस व्यवहार ढांचे की आनुभविक अध्ययनों के आधार पर जांच की है। उनके अनुसार, एक आधुनिक फर्म ऐसा प्लांट चुनती है जो वह उपलब्ध परिवर्तनशील प्रत्यक्ष साधनों से सुगमता के साथ चला सकती है। एसे प्लांट में कुछ रिजर्व क्षमता और बहुत लोचशीलता पाई जाती है। फर्म अपनी वस्तु की माँग में वृद्धि को पूरा करने हेतु, विस्तृत रेंज में अधिकतम उत्पादन की दर उत्पादित करने के लिए, इस प्रकार के प्लांट को स्थापित करती है। तश्तरी–आकार के SAVC और SMC वक्रों को चित्र में दिखाया गया है। प्रारंभ में, दोनों वक्र पहले बिन्दु A तक गिरते हैं और SAVC वक्र से ऊपर SMC वक्र स्थित होता है। SAVC वक्र का गिरता भाग, स्थिर साधन के बेहतर उपयोग और परिणामस्वरूप परिवर्तनशील साधन (श्रम)की दक्षताओं और उत्पादकता में वृद्धि के कारण, लागतों में कमी को दर्शाता है। बेहतर दक्षताओं के साथ कच्चे मालों के अपव्यय भी कम होते हैं। तथा समस्त प्लांट के बेहतर उपयोग पर पहुँच जाते हैं। जहाँ तक उत्पादन की Q_1Q_2 रेंज पर तश्तरी आकार के SAVC वक्र के चपटे भाग का संबंध है, आनुभविक प्रमाण यह व्यक्त करता है कि इस विस्तृत रेंज में एक प्लांट का कार्यकरण पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है। तश्तरी–आकृति के SAVC वक्र का कारण यह है कि स्थिर साधन विभाज्य है। SAV लागतें एक बड़ी रेंज पर उस बिन्दु तक स्थिर होती हैं जिस पर समस्त स्थिर साधन प्रयोग होता है। फिर, फर्म की SAV लागतें उत्पादन के एक विस्तृत रेंज पर स्थिर होती हैं क्योंकि जो प्लांट चालू रखे जाते हैं उनमें श्रम और पूँजी के इष्टतम संयोग से हटने की आवश्यकता नहीं है। अतः उत्पादन की इस बड़ी रेंज पर SAVC वक्र चपटा होगा, SMC वक्र इसके बराबर होगा और प्रति इकाई उत्पादन स्थिर होगा। इसलिए फर्म प्लांट की Q_1Q_2 रिजर्व क्षमता के बीच उत्पादन करती रहेगी, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

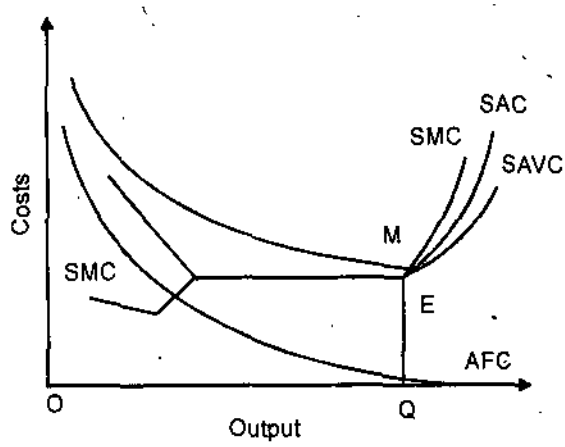

Fig. 33

B बिन्दु के बाद, SAVC और SMC वक्र ऊपर की ओर चढ़ना प्रारंभ करते हैं। जब फर्म Q_2 से आगे उत्पादन की ऊँची दरें प्राप्त करने के लिए अपने प्लांट के सामान्य या लोड फैक्टर से परे हटती है, तो इससे SAVC और SMC दोनों बढ़ती हैं। लागतों में वृद्धि पुराने और कम दक्ष प्लांट को ओवरटाइम चलाने से हो सकती है, जिससे बार–बार मशीनों का खराब होना, कच्चे माल का अपव्यय, श्रम उत्पादकता में कमी और ओवरटाइम कार्य करने से श्रम लागत में वृद्धि का होना है। B बिन्दु के आगे SAVC वक्र के बढ़ते भाग में SMC वक्र उससे ऊपर होता है।

अल्पकालीन औसत कुल लागत वक्र SAC या SATC को उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर AFC वक्र और SAVC वक्र को अनुलंब तौर से जोड़कर प्राप्त किया जाता है। जैसा कि चित्र (*Fig. 33 देखें*) में दर्शाया गया है SAC वक्र उत्पादन के Q स्तर तक गिरता चला जाता है इस स्तर पर प्लांट की रिजर्व क्षमता पूरी तरह से समाप्त हो जाती है। इस उत्पादन स्तर के पश्चात् SAC वक्र उत्पादन बढने के साथ ऊपर की ओर गति करता है। उत्पादन के Q स्तर तक SAC वक्र की समतल और निरंतर गिरावट, इस कारण है कि AFC वक्र आयताकार अतिपरवलय है और SAVC वक्र पहले गिरता है और फिर रिजर्व क्षमता के रेंज के बीच समानांतर हो जाता है। उत्पादन स्तर Q के आगे, यह सीधा ऊपर की ओर बढ़ना शुरू कर देता है। परन्तु SAC वक्र का न्यूनतम बिन्दु M, जहाँ SMC वक्र इस को काटता है, SAVC वक्र के बिन्दु E के दाई ओर है। ऐसा इस कारण कि SAVC पर E बिन्दु सीधा ऊपर बढ़ना प्रारंभ करता है जबकि AFC वक्र बहुत कम दर से गिर रहा है।

2. दीर्घकालीन लागत वक्र (Long-Run Cost Curves) – दीर्घकालीन औसत लागत के बारे में आनुभविक प्रमाण बताते हैं कि LAC वक्र L आकृति का होता है न कि U आकृति का। शुरू में, LAC वक्र तीव्रता से गिरता है परन्तु एक बिन्दु के पश्चात् वक्र चपटा रहता है, या अपने दाएँ हाथ के छोर पर नीचे की ओर धीरे से ढालू हो सकता है। अर्थशास्त्रियों ने LAC वक्र के L- आकृति के होने के लिए निम्नलिखित कारण दिए हैं।

उत्पादन और प्रबंधकीय लागतें (Production and Managerial Costs)

दीर्घकाल में, समस्त लागतें परिवर्तनशील होने के कारण, जब औसत लागतों पर उत्पादन के प्रसार के प्रभाव पर विचार किया जाता है, तो फर्म की उत्पादन और प्रबंधकीय लागतों को ध्यान में रखा जाता है जब उत्पादन बढ़ता है तो उत्पादन लागतें लगातार कम होती जाती हैं, जबकि प्रबंधकीय लागतें उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर बढ़ सकती है। परन्तु उत्पादन बढ़ने के साथ LAC वक्र गिरता है। हम LAC वक्र की L- आकृति को समझने के लिए उत्पादन और प्रबंधकीय लागतों के व्यवहार का विश्लेषण करते हैं।

उत्पादन लागतें (Production Costs) – जब एक फर्म अपने उत्पादन के पैमाने को बढ़ाती है, तो प्रारंभ में उसकी उत्पादन तीव्रता से कम होती हैं और फिर धीरे-धीरे। ऐसा फर्म द्वारा बढ़े पैमाने की तकनीकी किफायतें प्राप्त करने से होता है। शुरू में, ये किफायतें काफी होती हैं। परन्तु उत्पादन के एक विशेष स्तर के बाद जब अधिकतर या सभी किफायतें प्राप्त हो जाती हैं, तो फर्म न्यूनतम इष्टतम पैमाने या न्यूनतम दक्ष पैमाने पर पहुँच जाती है। उद्योग ने की प्रोद्यौगिकी दी होने पर, फर्म न्यूनतम दक्ष पैमाने से अधिक उत्पादन स्तर पर निम्न कारणों से कुछ तकनीकी किफायतों का लाभ उठा सकती है : *(क)* आगे और विकेन्द्रीकरण तथा श्रम की उत्पादकता और कुशलताओं में सुधार में; *(ख)* फर्म के एक विशेष आकार पर पहुँचने के बाद कम मरम्मत लागतों से; और *(ग)* दूसरी फर्मों से खरीदने की बजाए, स्वयं कुछ साज-सामान और उपकरण का सस्ता उत्पादन करके, जिनकी फर्म को आवश्यकता होती है।

प्रबंधकीय लागतें (Managerial Costs) – आधुनिक फर्मों में, प्रत्येक प्लांट के बिना रुकावट के कार्यकरण के लिए एक प्रबंधकीय ढाँचा होता हैं प्रबंध के विभिन्न स्तर होते हैं, जिनमें से प्रत्येक की एक अलग प्रबंध तकनीक होती है जो उत्पादन के एक विशेष स्तर पर लागू होती है। इस प्रकार, एक प्लांट के लिए एक प्रबंध ढांचा दिया होने पर, इसकी प्रबंधकीय लागतें उत्पादन के बढ़ने के साथ पहले गिरती हैं और उत्पादन के केवल बहुत थोड़े पैमाने पर वे धीरे-धीरे बढ़ती है।

संक्षेप में, उत्पादन के बहुत बड़े पैमानों पर, उत्पादन बिना रुकावट के गिरती हैं और प्रबंधकीय लागतें धीरे-धीरे बढ़ती हैं। परन्तु उत्पादन लागतों में कमी प्रबंधकीय लागतों में वृद्धि को अधिक निष्प्रभावित करती है जिससे LAC वक्र उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर निर्विघ्न गिरता है या चपटा हो जाता है। इससे LAC वक्र की L- आकृति उत्पन्न होती है।

इस प्रकार का LAC वक्र खींचने के लिए हम तीन अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_1, SAC_2 और SAC_3 लेते हैं जो समान प्रौद्योगिकी के तीन प्लांटों को व्यक्त करते हैं, जैसा कि चित्र (*Fig. 34 देखें*) में दर्शाया गया है। प्रत्येक SAC वक्र में उत्पादन लागतें, प्रबंधकीय लागतें, अन्य स्थिर लागतें और सामान्य लाभ के लिए अतिरिक्त राशि शामिल होती हैं प्रत्येक प्लांट का पैमाने (SAC) एक विशिष्ट लोड फैक्टर क्षमता से प्रतिबंधित होता, जिससे A, B और C बिन्दु प्रत्येक प्लांट के उत्पादन के न्यूनतम इष्टतम पैमाने को व्यक्त करते हैं। एक बड़ी संख्या के SAC_s के A, B, C आदि जैसे सभी बिन्दुओं को मिलाने से हमें एक निर्विघ्न निरंतर LAC वक्र होता है, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है। यह वक्र उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर ऊँचे की ओर नहीं मुड़ता है। यह SAC वक्रों को नहीं घेरता बल्कि प्रत्येक प्लांट के उत्पादन के इष्टतम पैमाने पर उन्हें काटता है।

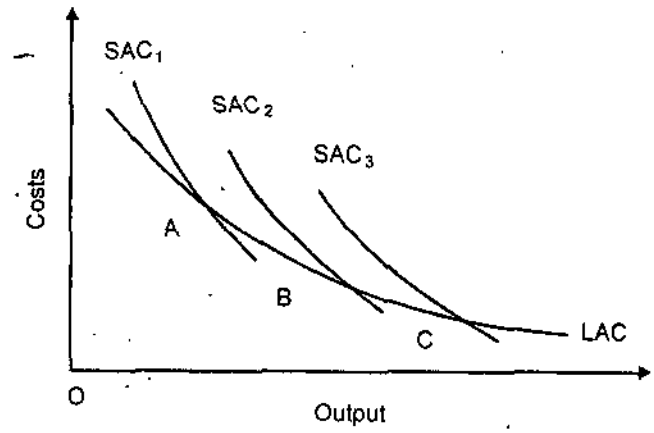

Fig. 34

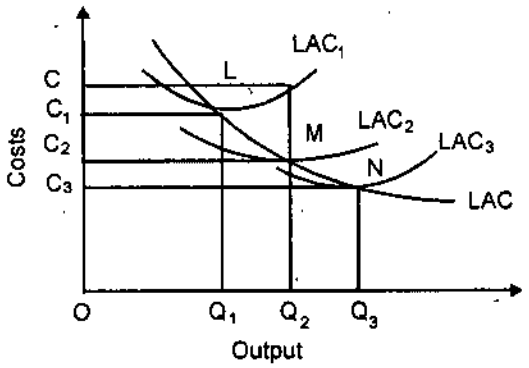

Fig. 35

लागतों के आधुनिक सिद्धांत में LAC वक्र की L- आकृति होने का एक अन्य कारण तकनीकी उन्नति है। लागतों का परंपरागत सिद्धांत तकनीकी उन्नति की मान्यता को नहीं लेता है, जब वह U- आकृति के LAC वक्र की व्याख्या करता है। परन्तु दीर्घकालीन लागतों से संबंधित आनुभविक परिणाम फर्मों में तकनीकी उन्नति के कारण पैमाने की विस्तृत मितव्ययिताओं के होने की पुष्टि करते हैं जिस समय अवधि के बीच तकनीकी उन्नति हुई हैं, दीर्घकालीन औसत लागतों की गिरने की प्रवृत्ति को दर्शाते हैं। अमितव्ययिताओं के बारे में प्रमाण बहुत कम निश्चित हैं। इसलिए पैमाने के अन्तिम छोर पर ऊपर की ओर LAC का मोड़ नहीं देखा गया हैं। तकनीकी उन्नति के कारण LAC वक्र की L- आकृति को चित्र (*Fig. 35 देखें*) में समझाया गया है।

मान लीजिए कि फर्म LAC_1 वक्र पर प्रति इकाई OC_1 लागत से OQ_1 उत्पादन करती है। यदि फर्म की वस्तु की माँग बिना तकनीकी परिवर्तन के बढ़कर OQ_2 हो जाती है, तो फर्म प्रति इकाई OC लागत पर LAC_1 वक्र के साथ OQ_2 उत्पादन करेगी। यदि फर्म में तकनीकी उन्नति होती है, तो वह दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC_2 नया प्लांट लगाएगी। इस प्लांट पर वह कम प्रति इकाई लागत OC_2 पर OQ_2 उत्पादन करती हैं। इसी प्रकार, यदि फर्म अपनी वस्तु की माँग में और वृद्धि को पूरा करने के लिए अपने उत्पादन को OC_3 तक बढ़ाने का निर्णय लेती है तो तकनीकी उन्नति इतने उन्नत स्तर तक पहुँच चुकी है कि वह LAC_3 वक्र वाला प्लांट लगाती है। अब यह और भी कम प्रति इकाई लागत OC_3 पर OQ_3 उत्पादन करती है। यदि इन दीर्घकालीन U- आकृति के औसत लागत वक्रों LAC_1, LAC_2 और L, M और N बिन्दुओं को रेखा द्वारा जोड़ा जाए, तो इससे एक नीचे की ओर धीरे से ढालू L- आकृति का LAC वक्र बनता है।

जानकारी (Learning)

L– आकृति वाले दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का एक और कारण जानकारी प्रक्रिया है। जानकारी अनुभव से प्राप्त होती है। यदि इस संदर्भ में अनुभव को उत्पादित वस्तु की मात्रा से मापा जा सकता है, तो जितना अधिक उत्पादन होगा, प्रति इकाई लागत उतनी ही कम होगी। जानकारी के परिणाम बढ़ते हुए प्रतिफल की तरह हैं। पहला, बड़े स्तर पर किए गए कार्य से प्राप्त जानकारी को भुलाया नहीं जा सकता। दूसरा, जानकारी होने से उत्पादकता की दर बढ़ जाती हैं। तीसरा, अनुभव को उत्पादित किए गए कुल उत्पादन द्वारा तब से आंका जाता है जबसे फर्म ने शुरू में उत्पादन प्रारम्भ किया था। जब फर्में नई वस्तुएँ उत्पादित करना शुरू करती हैं, तो करने से जानकारी देखी गई है। जब वे पहली इकाई उत्पादित कर लेती हैं, तो उत्पादन के लिए जितना समय चाहिए उसे कम कर लेती हैं, और इस प्रकार वे प्रति इकाई लागतें कम करती हैं।

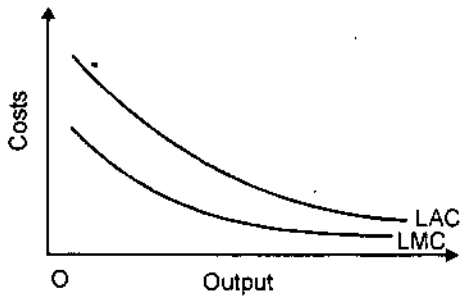

Fig. 36

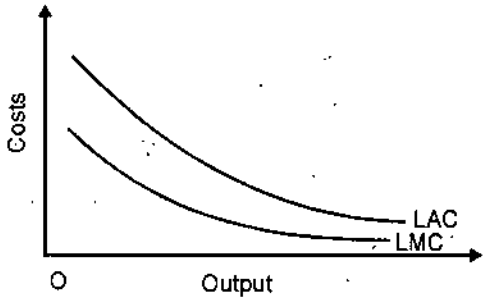

Fig. 37

उदाहरणार्थ, यदि फर्म जहाज के ढाँचे बनाती है, तो दीर्घकालीन औसत लागतों में देखी गई गिरावट एक विशेष प्रकार के जहाज के ढाँचे का उत्पादन करने के अनुभव के कारण होती है न कि सामान्य जहाज के ढाँचों में । इसलिए व्यक्ति 'एक जानकारी वक्र' बना सकता है जो कि फर्म द्वारा हवाई जहाज के ढाँचे बनाने से लेकर अभी तक बनाए गए कुल हवाई जहाज के ढांचों की तुलना में प्रति ढांचे की लागत से सम्बन्धित है। चित्र एक जानकारी वक्र LAC दर्शाता है जो एक दिए हुए उत्पादन की लागत को समस्त समय अवधि के ऊपर कुल उत्पादन से संबंधित करता है। वस्तु बनाने के साथ बढ़ रहे अनुभव से लागतें गिरती जाती हैं जबकि इसकी अधिक से अधिक मात्रा उत्पादित की जाती है। जब फर्म जानकारी की सभी संभावनाओं का उपयोग कर लेती है, तो लागतें न्यूनतम स्तर, M पर पहुँच जाती हैं, जैसा कि चित्र (*Fig. 36 and 37*) में दिखाया गया है। इस प्रकार करने से जानकारी के कारण LAC वक्र L- आकृति का होता है। LAC और LMC वक्रों में संबंध।

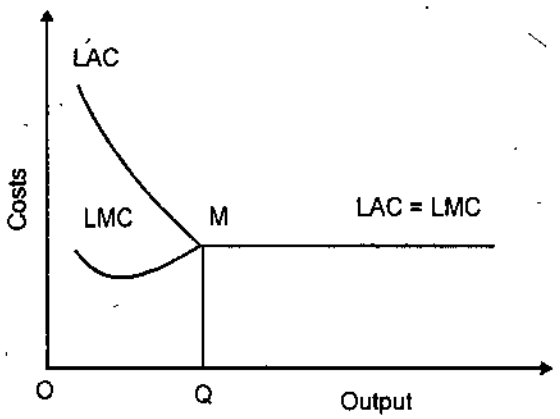

Fig. 38

आधुनिक लागत–सिद्धांत में, यदि LAC वक्र उत्पादन के बहुत बड़े पैमानों पर भी निर्विघ्न और लगातार गिरता है, तो LAC वक्र की समस्त लंबाई के नीचे LMC वक्र स्थित होगा, जैसा कि में दिखाया गया है।

यदि प्लांट के एक न्यूनतम इष्टतम पैमाने या प्लांट के एक न्यूनतम दक्ष पैमाने के बिन्दु तक, जिसके बाद पैमाने की और किफायतें नहीं पाई जाती हैं, तो LAC t वक्र X- अक्ष के समांनातर हो जाता है। इस स्थिति में LAC वक्र से नीचे LMC वक्र स्थित होता है जब तक न्यूनतम दक्ष पैमाने का बिन्दु, M नहीं पहुँच जाता है और इस बिन्दु के बाद LAC वक्र मिल जाता है, जैसा कि चित्र (*Fig. 38 देखें*) में दर्शाया गया हैं।

निष्कर्ष

अधिकतर आनुभविक लागत अध्ययन ये सुझाव देते हैं कि परंपरागत सिद्धांत द्वारा उपकल्पित U– आकृति के लागत वक्र वास्तविकता में नहीं देखे जाते हैं। इन अध्ययनों से दो मुख्य परिणाम निकलते हैं। प्रथम, SAVC

और SMC वक्र उत्पादन के विस्तृत रेंज पर स्थिर हैं। द्वितीय, उत्पादन के नीचे स्तरों पर LAC वक्र तीव्रता से गिरता है और जब उत्पादन का पैमाना बढ़ता है तो बाद में व्यवहारिकता में स्थिर रहता है इसका मतलब है कि LAC वक्र U- आकृति का न होकर, L- आकृति का है। बहुत कम अवस्थाओं में पैमाने की अमितव्ययिताएँ पाई गई और वे भी उत्पादन के बहुत ऊँचे स्तरों पर।

3.11 लागतों की लोच (Elasticity of Costs)

यदि उत्पादन Q कुल लागत T द्वारा उत्पादित होता है जो लागत फलन होता है : $T = f(Q)$ कुल लागत की लोच कुल लागत में आनुपातिक परिवर्तन तथा उत्पादन में आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात होता है।

इस प्रकार लिखा जा सकता है :

$$k = \frac{dT}{T} \div \frac{dQ}{Q} = \frac{dT}{T} \times \frac{Q}{dQ} = \frac{dT}{dQ} \cdot \frac{Q}{T} = \frac{dT}{dQ} \div \frac{T}{Q} = \frac{MC}{AC}$$

अतः लागत–लोच (k) सीमांत लागत (dt/dQ) का औसत लागत (T/Q) के साथ अनुपात के बराबर होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि $MC > AC$ तो $K > 1$ या $MC < AC$ तो $K < 1$ चित्र में, जब MC वक्र AC वक्र से ऊपर होता है तो $k > 1$. जैसा कि चित्र में बिन्दु E के दाईं ओर का क्षेत्र है। यह ह्रासमान प्रतिफल व्यक्त करता है। जब $MC = AC$ तो $k = 1$. चित्र में यह स्थिति बिन्दु E जहाँ MC वक्र AC वक्र को नीचे से काटता है। यह स्थिर प्रतिफल की अवस्था है। जब $MC < AC$ तो $k < 1$ यह चित्र में E बिन्दु के बाईं ओर का क्षेत्र है, जहाँ MC वक्र गिर रहा है और AC वक्र से नीचे है। यह बढ़ते प्रतिफल की अवस्था है। क्योंकि औसत लागत एवं सीमांत लागत उत्पादन से संबद्ध कुल लागत से व्युत्पन्न की जाती हैं, AC वक्र तथा MC वक्र के आकार कुल लागत वक्र आकार से भी जाने जा सकते हैं।

चित्र आगे यह भी बताता है कि कुल लागत की लोच उत्पादन की वृद्धि के साथ निरन्तर इकाई से कम से लेकर इकाई से अधिक तक बढती जाती है। पहले, थोड़े उत्पादनों के लिए लागत–लोच इकाई से कम होती है और अन्त में, बड़े उत्पादनों के लिए यह इकाई से अधिक होती है। दूसरों शब्दों में, यदि उत्पादन का एक निश्चित स्तर मान लो α लिया जाए तो उत्पादन $Q < \alpha$ के लिए $k < 1$, और उत्पादन $Q > \alpha$ के लिए $k > 1$. जब $Q = \alpha$ हो तो $k = 1$ होता है। यह चित्र (*Fig. 39 देखें*) में दर्शाया गया है।

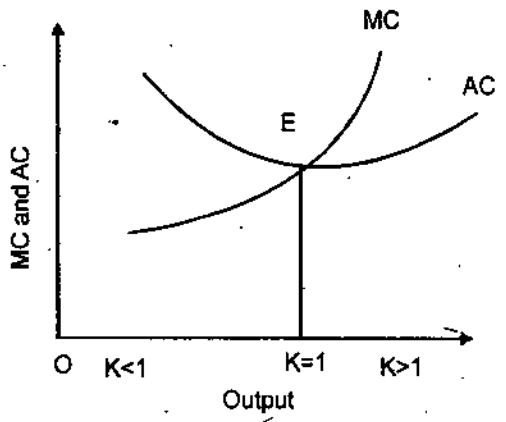

Fig. 39

औसत लागत की लोच (Elasticity of Average Cost) – कुल लागत की लोच k है :

$E(T) = \frac{dT}{dQ} \cdot \frac{Q}{T}$, और औसत लागत है T/Q. इसलिए, T को T/Q से स्थानापन्न करके

NOTES

$$E(T/Q) = \frac{d(T/Q)}{dQ}.\frac{Q}{T/Q}$$

$$= \frac{d}{dQ}(T/Q).\frac{Q^2}{T}$$

$$= \frac{Q^2}{T}\left(\frac{Q\frac{dT}{dQ}-T}{Q^2}\right)$$

$$= \frac{Q^2}{T}.\frac{1}{Q^2}\left(Q\frac{dT}{dQ}-T\right)$$

$$= \frac{Q^2}{T}.\frac{dT}{dQ}-1 = k-1$$

इससे ये निष्कर्ष निकलते है : (1) यदि k (कुल लागत की लोच) इकाई से अधिक, बराबर या कम हो तो औसत लागत की लोच शून्य से अधिक, बराबर या कम होती है। (2) कुल लागत की लोच औसत लागत की लोच से इकाई से अधिक होती है, अर्थात् E (T/Q) = k –1 or k – E (T/Q) = 1.

सीमांत लागत की लोच (Elasticity of Marginal Cost) – जैसाकि हम जानते हैं, कुल लागत की लोच है : E (T) = dT/dQ. Q/T इसलिए, सीमांत लागत है dT/dQ. T को dT/dQ से स्थानापन्न करके

$$E\left(\frac{dT}{dQ}\right) = d\frac{(dT/dQ)}{dQ}.\frac{Q}{(dT/dQ)}$$

$$= \frac{d}{dQ}(dT/dQ).\frac{Q}{(dT/dQ)}$$

क्योंकि 1 निम्न द्वारा दिया है,

$$\mathbf{K = Q/T.dT/dQ \text{ or } Tk/2 = dT/dQ}$$

(2) का मूल्य (1) में स्थानापन्न करने से, हमें प्राप्त होता है,

$$E\left(\frac{dT}{dQ}\right) = \frac{d}{dQ}\left(\frac{dT}{dQ}\right).\frac{Q^2}{T_k}$$

सारांश

- उत्पादन प्रकार्य आगतों (Input) एवं निर्गतों (Output) की मात्राओं के फलनात्मक संबध को व्यक्त करता है। यह बताता है कि समय की एक निश्चित अवधि में आगतों के परिवर्तन से निर्गतों में किस प्रकार और कितनी मात्रा में परिवर्तन होता है।
- सैम्युलसन के अनुसार– "उत्पादन फलन वह प्राविधिक संबध है जो यह बताता है कि पड़तों या आगतों के प्रत्येक विशेष समूह द्वारा कितना उत्पादन किया जा सकता है। यह किसी दी हुई प्राविधिक ज्ञान की स्थिति के लिये परिभाषित या संबंधित होता है।"
- समोत्पाद वक्र एवं उदासीनता वक्र में अद्‌भुत समानता पाई जाती है। समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन सभी संयोगों को प्रदर्शित करता है जिनसे प्रदा उत्पन्न होती है। ठीक उसी प्रकार उदासीनता वक्र दो वस्तुओं के उन सभी संयागों को व्यक्त करता है जिनसे उपभोक्ता को एक समान–स्तरीय सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

- साधन स्थानापन्नता या तकनीकी स्थानापन्नता की लोच दो साधनों के बीच स्थानापन्न योग्यता की कोटि को मापती है। इस सिद्धान्त के निर्माता *जे. आर. हिक्स* ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है : "यह उस स्थिति का माप है जिसमें अन्य साधनों के स्थान पर एक परिवर्तनशील साधन को स्थानापन्न किया जा सकता है।"
- फर्म की लागत उसकी पूर्ति को निर्धारित करती है पूर्ति और माँग द्वारा कीमत निर्धारित होती है। कीमत निर्धारण की प्रक्रिया और पूर्ति शक्तियों को समझने के लिए हमें लागत की प्रकृति को समझना होगा।
- फर्म के अल्पकालीन विश्लेषण में, कुल लागतों से औसत लागतें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। उत्पादन की जो इकाइयाँ फर्म उत्पादित करती है वे उसे समान लागत की मात्रा पर प्राप्त नहीं होती हैं। परन्तु उन्हें समान कीमत पर बेचना पड़ता है। इसलिए फर्म को प्रति इकाई लागत या औसत लागत का जानना बहुत जरूरी है। फर्म की अल्पकालीन औसत लागतों में औसत स्थिर लागतें, औसत परिवर्तनशील लागतें और औसत कुल लागतें शामिल होती हैं।

मूल्यांकन प्रश्न

1. उत्पत्ति ह्रास नियम की व्याख्या कीजिये।
2. लागत के विभिन्न प्रकारों का वर्णन कीजिए।
3. परिवर्तनशील अनुपातों के नियम से आप क्या समझते हैं?
4. परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की मान्यताएँ क्या हैं?
5. औसत तथा सीमान्त लागतों के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिये।
6. 'सम–विच्छेद विश्लेषण' का क्या अभिप्राय है? इसकी मान्यताओं एवं सीमाओं का वर्णन कीजिये।
7. औसत स्थिर लागत वक्र, औसत परिवर्तनशील लागत वक्र तथा सीमान्त लागत वक्र के रूप का स्पष्टीकरण कीजिए।
8. समोत्पाद वक्र की विशेषता का वर्णन कीजिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- प्रेम आहूजा एवं एच. एल. आहूजा : *उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त* ; एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली (हिन्दी एवं अंग्रेजी)।
- प्रो. पी. सी. सिन्हा; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; प्रयाग पुस्तक भवन; इलाहाबाद ।
- एस. एन. लाल एवं एस. के. लाल; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; शिव पब्लिशिंग हाउस; इलाहाबाद ।
- बी. पी. त्यागी; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; राज पब्लिशिंग हाउस; जयपुर ।
- M.L. Jhingan; *Microeconomic theory*; Vrinds Publication (P) Ltd. Delhi; (Hindi & English).
- अमिताभ तिवारी एवं बद्री विशाल त्रिपाठी; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; किताब महल, इलाहाबाद।

NOTES

अध्याय - 4

बाजार, बाजार के प्रकार एवं संतुलन

(Market, Types of Market and Equilibrium)

संरचना

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 बाजार का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Market)
— बाजार के तत्व (Essentials of Market)
— बाजार के प्रकार या रूप (Types of Market or Forms)
4.4 पूर्ण प्रतियोगिता बाजार (Perfect Competition Market)
— पूर्ण प्रतियोगिता का आशय एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Perfect Competition)
— पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य एवं मात्रा का निर्धारण
4.5 एकाधिकार (Monopoly)
— एकाधिकार की विशेषताएं (Characteristics of Monopoly)
— एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण की विधियां (Methods of Determination of Price and Output Under Monopoly)
— एकाधिकार में अल्पकालीन सन्तुलन (Short Period Equilibrium of Monopoly)
— एकाधिकार का दीर्घकाल साम्य (Long Period Equilibrium of a Monopolist)
4.6 मूल्य विभेद (Price Discrimination)
4.7 अपूर्ण व एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता (Imperfect and Monopolistic Competition)
— द्वयाधिकार प्रतियोगिता (Duopoly Competition)
4.8 अल्पाधिकार (Oligopoly)
— अल्पाधिकार की विशेषताएँ (Characteristics of Oligopoly)
• सारांश
• मूल्यांकन प्रश्न
• सन्दर्भ ग्रन्थ

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात्, विधार्थी योग्य होंगे :

- बाजार के विभिन्न प्रकारों का अर्थ एवं परिभाषा समझने हेतु।
- बाजार संतुलन, अधिमाँग, अधिपूर्ति का वर्णन करने हेतु।
- विभिन्न पूर्ण प्रतिस्पर्धारहित बाजार के विश्लेषण की जानकारी हेतु।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

पूर्व अध्याय में हमने फर्म के उत्पादन फलन तथा लागत वक्रों से संबंधित संकल्पनाओं का अध्ययन किया है। इस अध्याय का केंद्र-बिंदु भिन्न है। यहाँ प्रश्न उठता है कि कोई भी फर्म किस प्रकार यह निर्णय लेती है कि कितना उत्पादन करना है? इस प्रश्न के लिए हमारा उत्तर किसी भी रूप में सरल या अविवादित नहीं है। उत्तर फर्म के व्यवहार की एक निर्णायक अपितु कुछ हद तक अनुचित मान्यता पर आधरित है। हमारे अनुसार फर्म कठोर रूप से लाभ अधिकतमकर्ता होती है। अतः फर्म जिस मात्रा का उत्पादन तथा बाजार में उसका विक्रय करती है, वह उसके लाभ को अधिकतम करती है। इस अध्याय में, बाजार, बाजार के विभिन्न प्रकारों एवं बाजार संतुलन का अध्ययन करेंगे।

4.3 बाजार का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Market)

सामान्य रूप से बाजार का अर्थ उस स्थान (क्षेत्र) से होता है, जहाँ पर क्रेता और विक्रेता अपनी-अपनी वस्तुओं का क्रय विक्रय करते हैं। परन्तु बाजार संरचना से आशय विभिन्न बाजार स्थितियों से लगाया जाता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न उत्पादक फर्में या उद्योग उत्पादन विक्रय करते हैं। किसी भी वस्तु का कितना उत्पादन किया जाये और उसका कितना मूल्य रखा जाये ?

इन सब का निर्धारण उत्पादनकर्ता बाजार की संरचना से निर्धारित करता है। अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया जाता है। अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का अभिप्राय उस सम्पूर्ण क्षेत्र से है जहाँ वस्तु-विशेष के क्रेता एवं विक्रेता आपस में प्रतिस्पर्धा करके उस क्षेत्र भर के लिए वस्तु की एक कीमत स्थापित कर देते हैं। बाजार में फर्मों अथवा विक्रेताओं के द्वारा क्रेताओं को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है तथा प्रत्येक फर्म अथवा विक्रेता अपनी वस्तु को अधिक से अधिक मात्रा में बेचने का प्रयास करता है। अतः बाजार से आशय किसी स्थान विशेष से न होकर उस सम्पूर्ण क्षेत्र से होता है जहां पर वस्तु के अनेक क्रेता एवं विक्रेता होते हैं।

विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने बाजार की परिभाषा इस प्रकार दी है –

1. ऐली (Ely) – "बाजार का अर्थ हम उस साधारण क्षेत्र से लगाते हैं। जिसके भीतर किसी वस्तु विशेष की कीमतों का निर्धारण करने वाली शक्तियाँ कार्यशील हैं।"
2. जेबन्स (Jevons) – " बाजार शब्द से तात्पर्य व्यक्तियों के किसी समूह से है जिसमें व्यापारिक सम्बन्ध होते हैं और जो किसी वस्तु में मिश्रित व्यवसाय करते हैं।"
3. चेपमैन (Chapman) –"बाजार शब्द से आशय किसी स्थान–विशेष से नहीं वरन् वह सदा वस्तु या वस्तुओं तथा उनके क्रेताओं और विक्रेताओं की ओर संकेत करता है जो कि प्रत्यक्ष रूप से प्रतियोगिता करते हैं।"
4. केनरक्रास – "बाजार का अर्थ क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच वस्तु या साधन के लेन-देन का जाल सूत्र (a network of dealings) है।"

उपरोक्त परिभाषाओं को देखने से पता चलता है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने बाजार की भिन्न-भिन्न विशेषताओं का उल्लेख किया है जैसे क्षेत्र, एक कीमत क्रेता-विक्रेताओं की संख्या आदि। अतः परिभाषाओं के इस मतभेद को देखते हुए अर्थशास्त्रियों ने कुछ बाजार के आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया गया है।

बाजार के तत्व (Essentials of Market)

क्षेत्र – अर्थशास्त्र में बाजार शब्द से आशय किसी स्थान विशेष से नहीं है बल्कि बाजार का बोध उस समस्त क्षेत्र से होता है जिसमें बेचने वाले फैले होते हैं और वे आपस में स्वतंत्रतापूर्वक प्रतियोगिता करते हैं। जहाँ तक किसी

वस्तु के खरीदने और बेचने वाले फैले होते हैं वह सारा स्थान 'क्षेत्र' कहलाता है। इस क्षेत्र में एक-दो गाँव या शहर या कोई राष्ट्र भी शामिल हो सकते हैं। इलाहाबाद में बैठा हुआ एक व्यापारी कपड़े का क्रय-विक्रय कानपुर, मुम्बई, अहमदाबाद, दिल्ली, कर्नाटक में ही नहीं बल्कि सिंगापुर, न्यूयार्क या लंदन से भी कर सकता है। इस प्रकार कपड़े का बाज़ार इन क्षेत्रों के ग्राहकों को सम्मिलित करता है।

एक वस्तु – अर्थशास्त्र में बाजार एक ही वस्तु का माना जाता है। व्यवहार में हम एक ही स्थान पर एक से अधिक वस्तुएँ खरीद सकते हैं जैसे घी, फल, कपड़ा मिठाई इत्यादि। परन्तु अर्थशास्त्र में प्रत्येक वस्तु का बाजार पृथक्–पृथक् माना जाता है, जैसे घी का बाजार, फल का बाजार, सब्जी बाजार, इलेक्ट्रोनिक बाजार और कपड़ा बाजार इत्यादि। संक्षेप में जितनी ही वस्तुएँ होती है, अर्थशास्त्र में इनके उतने ही बाजार माने जाते हैं।

क्रेता–विक्रेता – क्रेता एवं विक्रेता दोनों ही बाजार के महत्वपूर्ण एवं अभिन्न अंग हैं अतः क्रेता एवं विक्रेता के अभाव में बाजार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। किन्तु बाजार में क्रेता एवं विक्रेता की कोई निश्चित संख्या नहीं होती। इनकी संख्या कम भी हो सकती है और अधिक भी।

स्वतंत्र प्रतियोगिता – बाजार में क्रेताओं एवं विक्रेताओं में स्वतंत्र रूप से प्रतियोगिता होनी चाहिये। स्वतंत्र प्रतियोगिता का यह अर्थ है कि क्रेताओं पर सौदे करते समय किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए।

एक कीमत – जब बाजार में क्रेताओं एवं विक्रेताओं में स्वतंत्र प्रतियोगिता होगी तो इसका परिणाम यह होगा कि वस्तु की कीमत एक समय में एक ही होगी। यदि किसी वस्तु की कीमत भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है तब मांग एवं पूर्ति की शक्तियों की क्रियाशीलता के कारण उनमें समानता होने की प्रवृत्ति होती है।

बाजार की उपर्युक्त अनेक परिभाषाओं एवं विशेषताओं के आधार पर इसकी परिभाषा इस तरह से दी जा सकती है। बाजार का तात्पर्य यह है कि किसी स्थान से नहीं वरन् उस समस्त क्षेत्र से होती है। जहाँ किसी वस्तु के क्रेता और विक्रेता फैले होते हैं, जिनमें स्वतंत्र प्रतियोगिता होती है, जिसके परिणामस्वरूप उस वस्तु का मूल्य सर्वत्र एक ही होता है।

बाजार के प्रकार या रूप (Types of Market or Forms)

बाजार को विभिन्न आधारों पर कई भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। इनमें से प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं –

1. **प्रतियोगिता के आधार पर (On the Basis of Competition)**
   - *(i)* पूर्ण प्रतियोगी बाजार (Perfect competitive market)
   - *(ii)* एकाधिकार (Monopoly)
   - *(iii)* अपूर्ण प्रतियोगी बाजार (Imperfect Comperitive Market)
     - *(अ)* एकाधिकृत प्रतियोगी बाजार (Monopolistic Competitive Market)
     - *(ब)* द्वयाधिकार (Duopoly)
     - *(स)* अल्पाधिकार (Oligopoly)
2. **समय के आधार पर (On the Basis of Time)**
   - *(i)* अति अल्पकालीन बाजार (Very Short Period Market)
   - *(ii)* अल्पकालीन बाजार (Short Period Market)
   - *(iii)* दीर्घकालीन बाजार (Long Period Market)
   - *(iv)* अति दीर्घकालीन बाजार (Very Long Period Market)

1. स्थान के आधार पर **(On the Basis of Area)**
   - *(i)* स्थानीय बाजार (Local Market)
   - *(ii)* प्रान्तीय बाजार (Regional Market)
   - *(iii)* राष्ट्रीय बाजार (National Market)
   - *(iv)* अन्तर्राष्ट्रीय बाजार (International Market)

4.4 पूर्ण प्रतियोगिता बाजार (Perfect Competition Market)

एक फर्म के लाभ अधिकतमीकरण की समस्या का विश्लेषण करने के क्रम में हमें सबसे पहले बाजार का वातावरण, जिसमें फर्म कार्य करती है, को स्पष्ट करना पड़ता है। इस अध्याय में हम एक ऐसे बाजार वातावरण का अध्ययन करेंगे जिसे पूर्ण प्रतिस्पर्धा कहा जाता है। एक पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक बाजार में दो पारिभाषिक लक्षण होते हैं :

1. बाजार ख़रीदारों तथा विक्रेताओं (अर्थात्, फर्मों) से बनता है। बाजार में सभी फर्में एक विशिष्ट एकरूपात्मक (अर्थात् विभेदात्मक) वस्तु का उत्पादन करती हैं।
2. बाजार में प्रत्येक ख़रीदार और विक्रेता कीमत-स्वीकारक है।

क्योंकि एक पूर्ण प्रतिस्पर्धात्मक बाजार का प्रथम लक्षण समझने में आसान है, हम द्वितीय लक्षण पर ध्यान देते हैं। एक फर्म की दृष्टि से, कीमत-स्वीकारक से क्या अभिप्राय है? एक कीमत-स्वीकारक फर्म को विश्वास है कि यदि वह बाजार कीमत से उपर एक कीमत निर्धारित करती है, तो यह जिस मात्रा का उत्पादन करती है, उसे बेचने में असमर्थ होगी। दूसरी ओर, यदि निर्धारित कीमत, बाजार कीमत के समान अथवा उसकी तुलना में कम हो, तो फर्म जितनी इकाइयाँ विक्रय करने को इच्छुक है, उतना विक्रय कर सकती है। एक ख़रीदार के दृष्टिकोण से, वह किस कीमत को स्वीकार करता है? ख़रीदार निश्चित रूप से सर्वाधिक सम्भावित न्यूनतम कीमत पर वस्तु ख़रीदना चाहती है।

तथापि, एक कीमत-स्वीकारक ख़रीदार को यह विश्वास होता है कि यदि उसने बाजार कीमत से कम कीमत की माँग की, तो कोई भी फर्म उसे उस वस्तु का विक्रय करने की इच्छुक नहीं होगी। दूसरी ओर, यदि माँगी गई कीमत बाजार कीमत के समान अथवा उससे अधिक है, तो ख़रीदार इच्छित मात्रा में वस्तु की बहुत-सी इकाइयाँ प्राप्त कर सकता है।

चूँकि यह अध्याय केवल फर्मों से ही संबंध रखता है, हम ख़रीदार के व्यवहार के विषय में अधिक चर्चा नहीं करेंगे। इसके बावजूद, हम उन स्थितियों की पहचान करेंगे जिनके अंतर्गत कीमत-स्वीकारक फर्मों के लिए एक सार्थक पूर्वधारणा है। कीमत-स्वीकारक ऐसी स्थिति में अक्सर एक सार्थक पूर्वधारक के रूप में जाना जाता है, जब बाजार में अनेक फर्में तथा ख़रीदार होते हैं जिन्हें बाजार में प्रचलित कीमत की पूर्ण जानकारी है। क्यों? आइए, आरंभ करते हैं एक ऐसी स्थिति से, जहाँ बाजार में प्रत्येक फर्म समान (बाजार) कीमत लेती है तथा वस्तु की कुछ मात्रा का विक्रय करती है। अब मान लीजिए कि एक विशेष फर्म अपनी कीमत को बाजार कीमत की तुलना में बढ़ा देती है।

ध्यान दीजिए, चूँकि सभी फर्में एक ही वस्तु का उत्पादन करती हैं तथा सभी ख़रीदार बाजार कीमत से पूर्णरूप से अवगत हैं, तो इस प्रश्न पर फर्म अपने ग्राहक खो देगी। इसके अलावा, जैसे-जैसे ये ख़रीदार अन्य फर्मों की ओर रुख करेंगे, कोई 'समायोजन' संबंधी समस्या खड़ी नहीं होगी। उनकी माँगें तुरंत से पूरी हो जाती हैं, क्योंकि बाजार में अनेक फर्में होती हैं। याद कीजिए कि बाजार कीमत से अधिक कीमत पर वस्तु की किसी भी मात्रा का विक्रय करने के लिए एक व्यक्तिगत फर्म की असमर्थता बिल्कुल वही है, जो एक कीमत-स्वीकारक की पूर्वधारणा है।

NOTES

पूर्ण प्रतियोगिता का आशय एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की वह स्थिति है, जिसमें क्रेता और विक्रेता अधिक संख्या में होते हैं, उनमें पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता पाई जाती है और कोई भी क्रेता अथवा विक्रेता वस्तु विशेष की कीमत को अपने क्रय–विक्रय द्वारा प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होता।

श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार – "पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उस समय पाई जाती है जबकि प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन की मांग पूर्णतया लोचदार होती है। इसका अर्थ है : प्रथम, विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होती है जिससे किसी एक विक्रेता का उत्पादन उस वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत ही थोड़ा भाग होता है, तथा दूसरे, सभी क्रेता प्रतियोगी विक्रेताओं के बीच चुनाव करने की दृष्टि से समान होते हैं, जिससे बाजार पूर्ण हो जाता है।

प्रो. फर्गुसन – "एक उद्योग पूर्ण प्रतियोगिता वाला तब होता है जब समस्त बाजार की तुलना में प्रत्येक क्रेता तथा विक्रता इतना छोटा होता है कि वह अपनी खरीद अथवा उत्पादन में परिवर्तन करके बाजार कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता है।"

मार्शल के अनुसार – "बाजार जितना अधिक पूर्ण होगा उतना ही उसके सभी भागों में किसी एक वस्तु के लिए एक समय पर एक ही कीमत चुकाने की प्रवृत्ति पायी जायेगी।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की वह स्थिति है जिससे क्रेता और विक्रेता बड़ी संख्या में वस्तु का विनियम करते हैं उनको बाजार की अवस्था का पूर्ण ज्ञान होता है तथा कीमत की प्रवृत्ति समस्त बाजार में एक समान होने की होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएं या दशाएं (Features or Conditions of Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की निम्न विशेषताएं पाई जाती हैं –

1. असंख्य क्रेता एवं विक्रेता (Large number of buyers and sellers)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत विक्रताओं के साथ–साथ क्रेताओं की संख्या भी बहुत ज्यादा होती है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक क्रेता उद्योग के कुल उत्पादन का एक बहुत छोटा-सा भाग खरीदता है। अर्थात् वह अपनी सीमित खरीद (मांग) के कारण ही वस्तु की कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होता है।

2. समरूप वस्तु का होना (Homogeneous Product)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सभी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ, रंग, रूप, आकार तथा गुण में एक रूप होती हैं अर्थात् बाजार में किसी प्रकार का कोई वस्तु विभेद नहीं पाया जाता है।

3. फर्मों का प्रवेश तथा बहिर्गमन स्वतन्त्र (Free Entry and Exit of Firm)

इस बाजार में कोई भी नई फर्म उद्योग में प्रवेश कर सकती है तथा काम में लगी कोई भी फर्म उत्पादन बन्द कर उद्योग छोड़ सकती है।

जिस बाजार में ये उपरोक्त तीन शर्तें पाई जाती हैं उसे अर्थशास्त्री 'विशुद्ध प्रतियोगी बाजार' (Pure competition Market) कहते हैं। इस बाजार में एकाधिकारी तत्व पूर्णतया अनुपस्थित रहता है। किन्तु आजकल अर्थशास्त्र में विशुद्ध प्रतियोगिता के स्थान पर पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की धारणा का ही अधिक उपयोग किया जाता है।

4. क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान (Perfect Knowledge of Market Conditions)

क्रेताओं और विक्रेताओं को वस्तु की कीमत की पूरी-पूरी जानकारी होती है। क्रेताओं को इस बात का अपूर्ण ज्ञान होता है कि भिन्न-भिन्न विक्रेता वस्तु को किस कीमत पर बेंच रहें हैं और विक्रेताओं को यह ज्ञान होता है कि कहाँ और किस क्रेता से उन्हें अधिक कीमत प्राप्त हो सकती है।

5. विक्रय लागत का अभाव

पूर्ण प्रतियोगिता में विक्रेता विज्ञापन, प्रचार आदि पर खर्च नहीं करता। सब फर्मों का उत्पादन एक समान होता हैं।

6. एक समान कीमत (Uniformity of Price)

सारे बाजार में उस वस्तु की एक ही कीमत प्रचलित रहती है। यदि कोई विक्रेता अधिक कीमत रखेगा तो उसकी मांग शून्य हो जायेगी।

7. कृत्रिम प्रतिबन्धों का अभाव (Lack of Artificial Restrictions)

इस बाजार में वस्तु के क्रेताओं व विक्रेताओं पर सरकार या अन्य किसी भी संस्था की ओर से कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता। हर बात का निर्णय बाजार की शक्तियों के आधार पर होता है।

8. साधनों की पूर्ण गतिशीलता (Perfect Mobility of Factors)

पूर्ण प्रतियोगिता की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि इस प्रकार के बाजार में वस्तुओं एवं सेवाओं और साधनों की गतिशीलता पायी जाती है। उत्पादन के साधन अपने विभिन्न उद्योगों में से जहाँ-कहीं वे रोजगार चाहते हैं वहीं जाने को वे मुक्त होते हैं।

9. परिवहन लागतों का अभाव (Absence of Transportation Cost)

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में वस्तु के यातायात की लागत का कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि सभी उत्पादक फर्में एक दूसरे के अति निकट स्थित होती है और एक समान कीमत प्रचलित होती है। ऐसी दशा में वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानें की कोई परिवहन लागत नहीं होती है।

10. क्षैतिज औसत आगम वक्र (Horizontal Average Revenue Curve)

पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में एक फर्म की औसत व सीमान्त आगम वक्र X- अक्ष के सामानान्तर होती है जो पूर्णतया लोचदार मांग को प्रकट करती है। इसे रेखाचित्र 1 में दर्शाया गया है।

इसका अर्थ है कि पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में प्रत्येक फर्म कीमत ग्रहण करने वाली (Price taker) होती है, कीमत निर्धारण करने वाली (Price maker) नहीं।

11. दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ (Normal Profit in Long Period)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत किसी फर्म को दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है। क्यों कि दीर्घकाल के अन्तर्गत मांग में परिवर्तन के अनुसार पूर्ति में भी परिवर्तन किया जा सकता है

पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य एवं मात्रा का निर्धारण

सामान्य रूप से वस्तु के मूल्य निर्धारण में मांग एवं पूर्ति की भूमिका होती है। उसी प्रकार उद्योग द्वारा वस्तु की कीमत का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है, जहाँ पर वस्तु की मांग तथा वस्तु की पूर्ति दोनों एक दूसरे को एक बिन्दु पर काटते हों। उसी बिन्दु पर वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। फर्म मूल्य का निर्धारण नहीं करती अपितु उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य को ग्रहण करती है। तालिका 1 में उद्योग द्वारा कीमत व उत्पादन का निर्धारण एवं फर्म द्वारा स्वीकृत कीमत को चित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है।

NOTES

तालिका – 1

उद्योग द्वारा कीमत व उत्पादन का निर्धारण

मूल्य (रु.में) (P)	*वस्तु की मांग* (D)	*वस्तु की पूर्ति* (S)
1	50	10
2	40	20
3	30	30 (D=S)
4	20	45
5	10	55
6	06	65

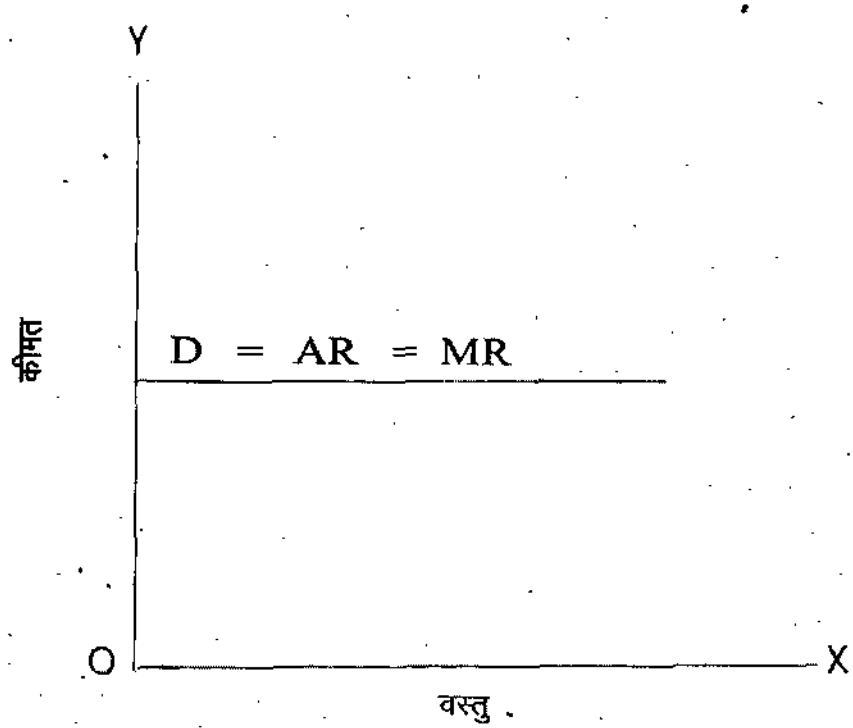

Fig. 1

तालिका 1 से स्पष्ट है जब वस्तु का मूल्य 1 रुपये था तो मांग (50 इकाई) अधिक तथा पूर्ति (10 इकाई) कम थी। लेकिन मूल्य में वृद्धि होकर 3 रुपये हो गयी तब मांग (30 इकाई) तथा पूर्ति (30 इकाई) बराबर हो गयी। इसी बिन्दु पर वस्तु की कीमत निर्धारित होती है। कीमत फर्म को भी स्वीकृत होगी जिसे चित्र 1 से स्पष्ट किया जा सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता में साम्य कीमत का निर्धारण किसी एक उत्पादक फर्म के द्वारा नहीं बल्कि सभी विक्रेताओं द्वारा होता है।

अर्थात उद्योग की मांग और पूर्ति अर्थात कुल पुर्ति द्वारा ही साम्य कीमत का निर्धारण होता है। (Fig. 2) से स्पष्ट होता है कि उद्योग द्वारा जो कीमत निर्धारित होती है वह फर्म द्वारा स्वीकृत कर ली जाती है। उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत पर ही फर्म अपनी उत्पादित वस्तु को विक्रय करती है। यह कीमत सभी फर्मों को स्वीकार होती है।

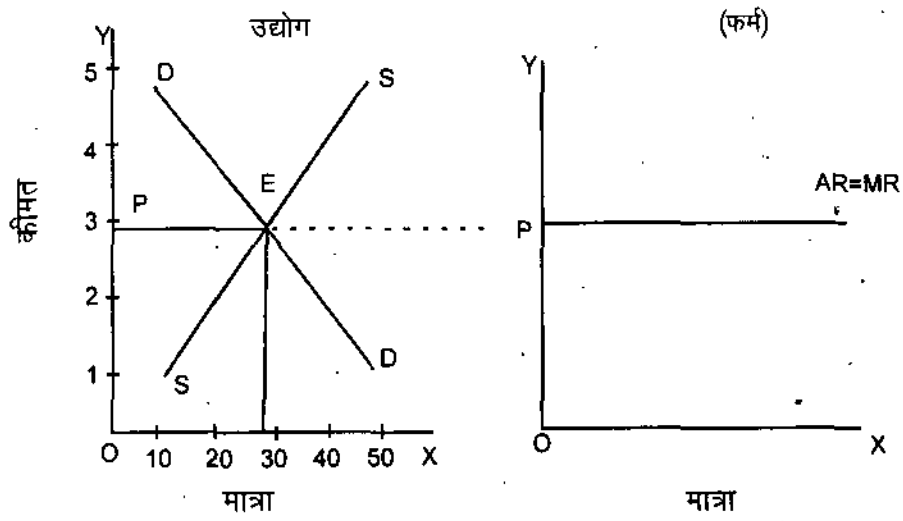

Fig. 2 A *Fig. 2B*

(Fig. 2 A) से स्पष्ट है जब वस्तु की कीमत 3 रुपये होती है तब मांग व पूर्ति भी 30 इकाई होती है। जो मांग एवं पूर्ति को E बिन्दु पर काटती है, यही उद्योग की कीमत है। जिसे फर्म स्वीकार करती है। क्योंकि फर्म की औसत आय व सीमान्त आय अर्थात् AR =MR बराबर है। जिसे (Fig. 2 B) में दर्शाया गया है। अतः स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग के द्वारा वस्तु की मांग व पूर्ति के आधार पर कीमत का निर्धारण किया जाता है तथा फर्म इस कीमत को दिया हुआ स्वीकार कर लेती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के सन्तुलन की रीतियाँ (Methods of Equilibrium of Firm Under Perfect Competition)

किसी फर्म के लिए अधिकतम लाभ प्राप्ति हेतु यह आवश्यक है कि फर्म सन्तुलन की अवस्था में हो। सामान्य रूप से कोई भी फर्म सन्तुलन में है या नहीं इसे मापने की दो रीतियाँ हैं –

(1) कुल आगम (TR) व कुल लागत (TC) रीति।

(2) सीमान्त आगम (MR) व सीमान्त लागत (MC) की रीति।

1. कुल आगम व कुल लागत रीति (TC and TR Method) –

इस विधि के अन्तर्गत कुल लागत तथा कुल आगम के माध्यम से फर्म का सन्तुलन स्थापित किया जाता है। इस रीति से स्पष्ट है कि जब फर्म में कुल लागत व कुल आगम या आय के मध्य अन्तर सर्वाधिक होता है। तब फर्म सन्तुलन की अवस्था में होती है। इसे (Fig. 3) से स्पष्ट किया गया है।

(Fig. 3) में OX अक्ष पर उत्पादन की मात्रा तथा OY अक्ष पर कुल लागत (TC) व कुल आगम (TR) को प्रदर्शित किया गया है। कुल लागत कभी शून्य नहीं हो सकती है, इसलिये इसका प्रारम्भ F बिन्दु से हुआ है। कुल लागत (TC) वक्र कुल आगम (TR) वक्र को A व C बिन्दु पर काटता है जिस पर फर्म को न लाभ और न हानि होती है। लेकिन B बिन्दु ऐसा है जिस पर TC व TR के मध्य अधिक अन्तर है इसलिये इसी बिन्दु पर फर्म उत्पादन करेगी और फर्म का सन्तुलन होगा। अन्य बिन्दु OM या OM_2 पर फर्म का सन्तुलन नहीं बनेगा। यदि फर्म OM_1 उत्पादन करती है तो BT लाभ होगा जो अधिकतम है। अतः OM_1 उत्पादन स्तर पर फर्म सन्तुलन में होगी जहां पर उसके कुल लाभ अधिकतम हो जाते हैं।

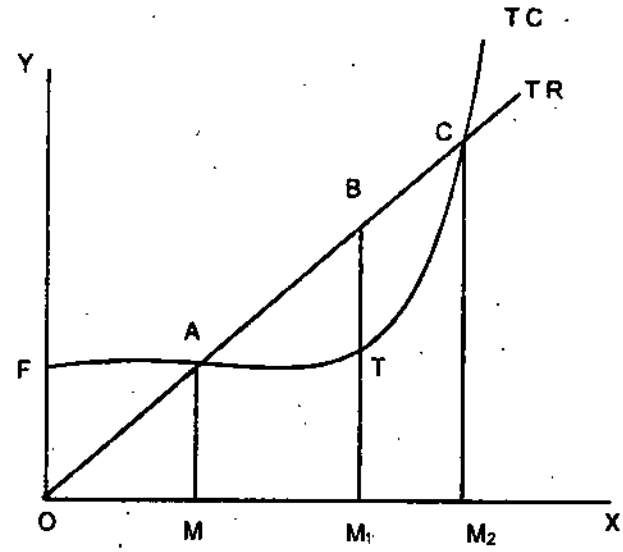

Fig. 3

2 सीमान्त आगम (MR) व सीमान्त लागत (MC) की रीति –

सीमान्त आगम व सीमान्त लागत की रीति के अनुसार फर्म तब सन्तुलन में होगी जब फर्म निम्न दो शर्तों को पूर्ण करती हो –

(अ) प्रथम शर्त, जब फर्म की सीमान्त लागत व सीमान्त आगम बराबर हो ।

अर्थात् $MC = MR$

(ब) दूसरी शर्त, जब फर्म की सीमान्त लागत वक्र नीचे से सीमान्त आगम वक्र को काटे, तब फर्म का सन्तुलन होगा।

फर्म के सन्तुलन की स्थिति को (Fig. 4) से स्पष्ट किया जा सकता है –

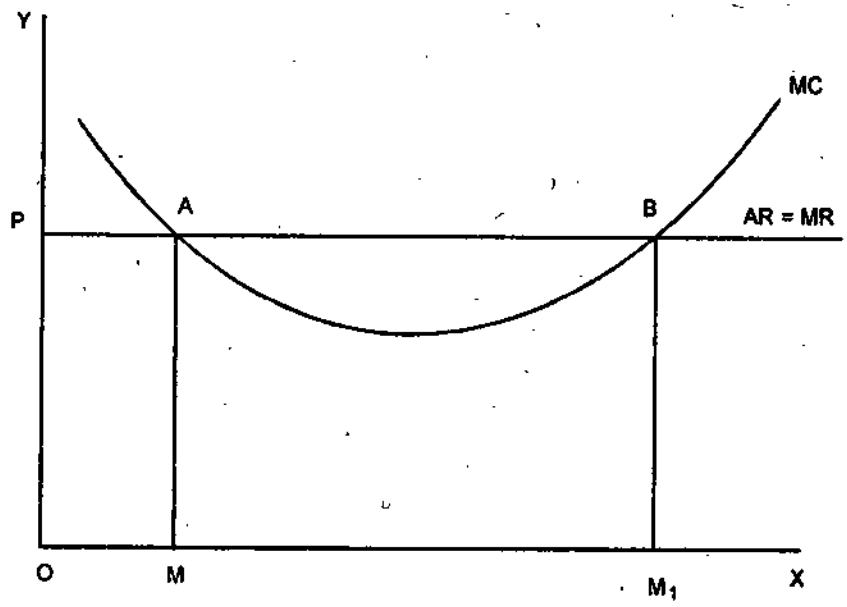

Fig. 4

(Fig. 4) में OX अक्ष पर उत्पादन की मात्रा तथा OY अक्ष पर फर्म के सीमान्त लागत व सीमान्त आगम को प्रदर्शित किया गया है। फर्म की प्रथम शर्त A व B बिन्दु पर पूर्ण होती है। लेकिन B बिन्दु ही ऐसा है जिस पर फर्म की प्रथम व द्वितीय शर्तें पूर्ण होती है। इसी बिन्दु पर फर्म अपना उत्पादन OM से बढ़ाकर OM_1 पर करेगी। जिससे फर्म B बिन्दु पर साम्य और अधिकतम लाभ अर्जित कर सकेगें। अब यदि फर्म OM_1 उत्पादन के पश्चात भी उत्पादन को जारी रखती है तो उसे हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि उसकी सीमान्त लागत उसके सीमान्त आगत से अधिक हो जायेगी। अतः फर्म B बिन्दु पर सन्तुलन में होगी तथा अधिकतम लाभ अर्जित करेगीं।

फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन (Short Period Equilibrium of Firm)

अल्पकाल में कोई सन्तुलन में होने के लिये सीमान्त लागत एवं सीमान्त आगम बराबर होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त समय पर भी निर्भर होता है कि फर्म को किस प्रकार का लाभ होगा। फर्म को अल्पकालीन में हानि या लाभ की गणना औसत आय (AR) और औसत लागत (AC) के अन्तर द्वारा ज्ञात किया जाता है। अल्पकाल वह समय होता है जिसमें उत्पत्ति के सभी साधनों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता है। जिसके कारण फर्म को निम्न अवस्थाओं का सामना करना पड़ता है –

(i) असामान्य लाभ (Abnormal Profit)

(ii) सामान्य लाभ (Normal Profit)

(iii) हानि (Loss)।

1. असामान्य लाभ (Abnormal Profit) –

अल्पकाल में किसी फर्म को उसी स्थिति में अतिरेक लाभ या असामान्य लाभ प्राप्त होता हैं जब उसकी औसत लागत वक्र औसत आगम वक्र के नीचे होती है। दूसरे शब्दों में जब उद्योग द्वारा निर्धारित वस्तु का मूल्य (जो फर्म का औसत आगम होता है) किसी फर्म की औसत उत्पादन लागत से अधिक होता है तो उस फर्म को अतिरेक लाभ प्राप्त होता है। *किसी फर्म को असामान्य लाभ उस समय प्राप्त होता है जब फर्म के उत्पादन की* प्रति इकाई कीमत (AR) उनकी प्रति इकाई औसत लागत (AC) से अधिक होती है। इस स्थिति को चित्र 5 द्वारा समझा जा सकता है।

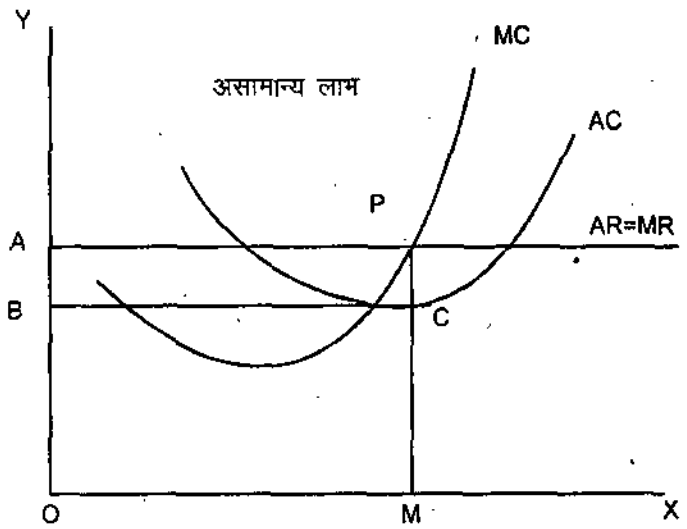

Fig. 5

(Fig. 5) में OX अक्ष पर उत्पादन की मात्रा तथा OY अक्ष पर कीमत और लागत को दर्शाया गया है। फर्म का सन्तुलन बिन्दु P है जहाँ MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटता हुआ ऊपर की ओर जा रहा है।

NOTES

AC वक्र AR से नीचे है जिससे स्पष्ट होता है कि फर्म ABCP लाभ हो रहा है। क्योंकि फर्म प्रति इकाई लाभ PC है और उत्पादन OM है इसलिये फर्म का असामान्य लाभ ABCP है।

2 सामान्य लाभ **(Normal Profit)** –

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म को सामान्य लाभ उस बिन्दु पर प्राप्त होता है जब फर्म की प्रति इकाई लागत (AC) और प्रति इकाई आय (AR) बराबर है। जिसे (Fig. 6) में स्पष्ट किया गया है।

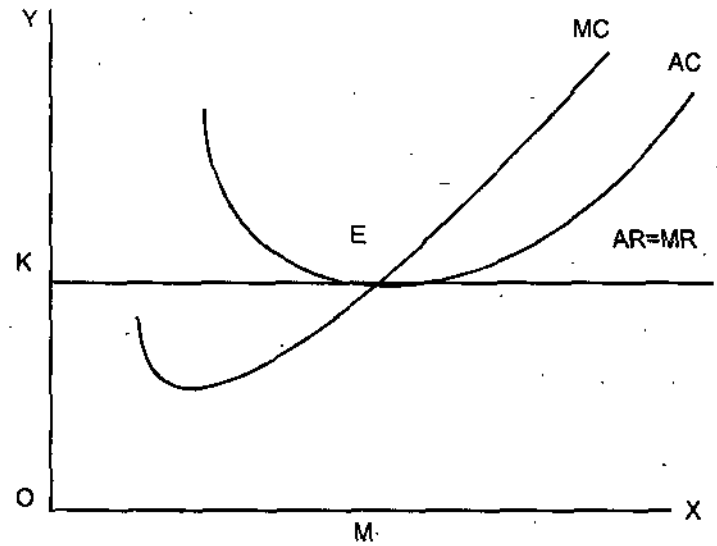

Fig. 6

फर्म का साम्य बिन्दु = E जहाँ MR = MC = ME

फर्म के उत्पादन की मात्रा = OM

फर्म की औसत लागत = ME

फर्म की औसत आगम = ME

E बिन्दु पर फर्म की AC और AR बराबर है, अर्थात औसत लागत और और औसत आगम बराबर है। इसलिये फर्म को सामान्य लाभ होता है।

3 हानि **(Loss)** – अल्पकाल में किसी फर्म को उस समय हानि होगी जिस समय औसत लागत (AC) औसत आगम (AR) की तुलना में अधिक होगा अर्थात् AC>AR हो। जिसे चित्र 7 से समझा जा सकता है।

फर्म का साम्य बिन्दु = E

फर्म का उत्पादन = OM

फर्म की प्रति इकाई कीमत = MC

फर्म की प्रति इकाई लागत = ME

फर्म को हानि = ME – MC = EC

फर्म की कुल हानि = ABCE

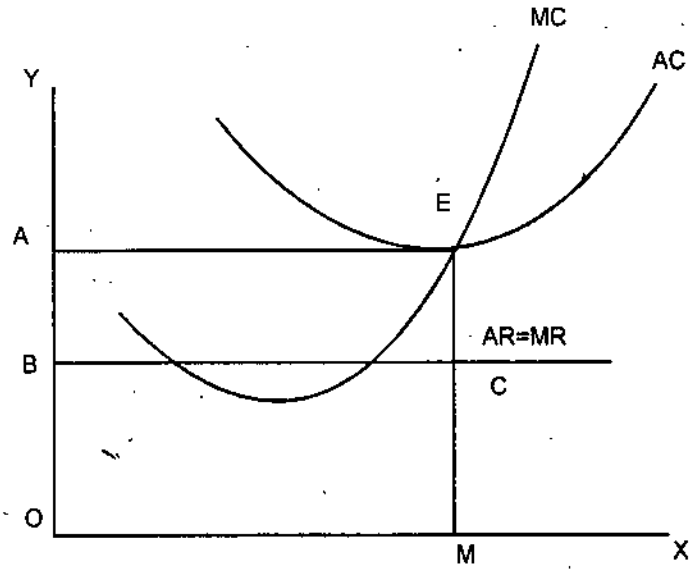

Fig. 7

फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन (Long Period Equilibrium of Firm)

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म को दीर्घकाल में सदैव सामान्य लाभ प्राप्त होता है। क्योंकि फर्म के पास अधिक समय होने के कारण फर्म सभी साधनों का प्रयोग कर लेता है। जबकि अल्पकाल में सभी साधनों का प्रयोग सम्भव नहीं हो पाता है। दीर्घकाल में औसत लागत (LAC) और औसत आगम (LAR) बराबर होता है।

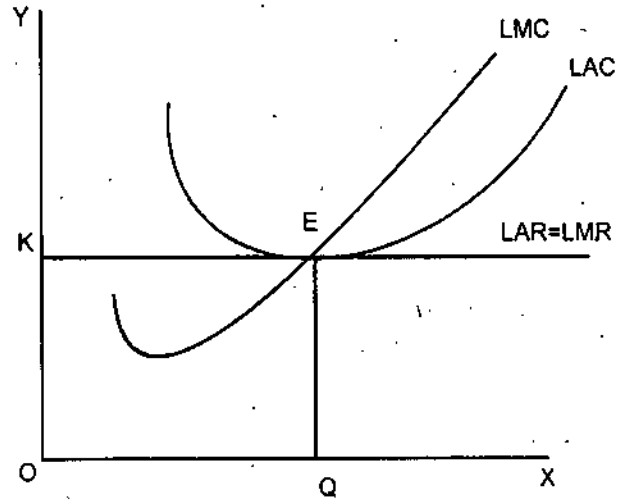

Fig. 8

(Fig. 8) में OX अक्ष पर उत्पादन और OY अक्ष पर लागत व आगम को दर्शाया गया है। QE साम्य उत्पादन के स्तर पर लागत और औसत आय दोनों ही OK के बराबर है। दीर्घकाल में LAR = LMR = LAC = LMC की भाँति पूर्ण होनी चाहिये, जो E बिन्दु पर पूर्ण होती है। इसलिये फर्म को दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ प्राप्त होता है।

NOTES

4.5 एकाधिकार (Monopoly)

एकाधिकार पूर्ण प्रतियोगिता के बिल्कुल विपरीत होता है। एकाधिकार शब्द का उदगम दो ग्रीक शब्द 'MONOS' तथा 'POLUS' से हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ 'अकेला' (Single) और 'विक्रेता' (Seller) है। अतः एकाधिकार बाजार की वह अवस्था है, जिसमें वस्तु का केवल एक ही विक्रेता होता है, तथा उस वस्तु की उत्पादन एवं पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है। इसके अतिरिक्त उस वस्तु की कोई स्थानापन्न या प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। एकाधिकार की दशा में बाजार में एक ही उत्पादक अथवा फर्म होती है इसलिए फर्म और उद्योग एक दूसरे के पर्यायवाची होते हैं।

चैम्बरलिन के अनुसार "एकाधिकार की स्थिति वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है।"

प्रो. बोल्डिंग के अनुसार –"शुद्ध एकाधिकारी फर्म वह फर्म है जो कि कोई ऐसी वस्तु उत्पादित कर रही है जिसका किसी अन्य फर्म की उत्पादित वस्तुओं में कोई प्रभावपूर्ण स्थानापन्न नहीं हो।"

ए. पी. लर्नर के अनुसार – "एकाधिकारी का तात्पर्य उस विक्रेता से है जिसकी वस्तु का मांग वक्र गिरता हुआ होता है।"

के. ई. बोल्डिंग के अनुसार – "शुद्ध एकाधिकरी वह फर्म है जो कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न कर रही है जिसका किसी अन्य फर्म की उत्पादित वस्तुओं में कोई प्रभावपूर्ण स्थानापन्न नहीं होता है। प्रभावपूर्ण से आशय यहां यह है कि यद्यपि एकाधिकारी असामान्य लाभ कमा रहा है, तथापि अन्य फर्में ऐसी स्थानापन्न वस्तु उत्पन्न करके जो कि क्रेताओं को एकाधिकारी की वस्तु से दूर कर सके, उक्त लाभों पर अतिक्रमण करने की स्थिति में नहीं है।"

एकाधिकार की विशेषताएं (Characteristics of Monopoly)

एकाधिकार बाजार की निम्न विशेषताएँ होती हैं –

1. एकाधिकार बाजार प्रतियोगिता में केवल एक ही उत्पादक या विक्रेता होता है। अन्य उत्पादक एवं विक्रेताओं का अभाव पाया जाता है।
2. वस्तु की कीमत पर पूर्ण एकाधिकार विक्रेता का होता है अर्थात कीमत का निर्धारण का अधिकार एकाधिकारी के हाथों में होता है।
3. नयी फर्मों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध होता है, जिससे एकाधिकार की स्थिति को बनाये रखा जा सके।
4. एकाधिकार बाजार में उद्योग एवं फर्म एक ही होती है।
5. दीर्घकाल में एकाधिकारी को असामान्य लाभ प्राप्त होता है।
6. एकाधिकार की स्थिति में कीमत विभेदीकरण सम्भव होता है। जिसका मुख्य कारण अधिक लाभ कमाना है।
7. एकाधिकारी वस्तु का मूल्य निर्धारक होता है, क्योंकि वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है।
8. एकाधिकारी बाजार में AR और MR — X अक्ष के समानान्तर नहीं होते हैं अपितु ऊपर से नीचे की ओर गिरते हैं। क्योंकि विभिन्न स्थानों पर वस्तुओं के मूल्य भिन्न–भिन्न होते हैं।

एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण की विधियां (Methods of Determination of Price and Output Under Monopoly)

एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन व कीमत का निर्धारण निम्नलिखित दो विधियों के आधार पर किया जाता है –

1. **कुल आगम तथा कुल लागत विधि** – किसी एकाधिकारी फर्म का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्जित करना होता है। यह उद्देश्य एकाधिकरी फर्म तभी प्राप्त कर सकती है जबकि यह अपनी कुल लागत व कुल आगम के मध्य अधिकतम अन्तर करने में समर्थ हो।

2. **सीमान्त आगम व सीमान्त लागत विधि** – इस विधि के अन्तर्गत एकाधिकरी का लाभ उस बिन्दु पर अधिकतम होता है जहां पर उसकी सीमान्त लागत तथा सीमान्त आगम दोनों एक समान होतें हों। वास्तव में यहां पर फर्म को अधिकतम और सामान्य लाभ हो सकता है और न्यूनतम हानि भी हो सकती है।

एकाधिकार में अल्पकालीन सन्तुलन (Short Period Equilibrium of Monopoly)

पूर्ण प्रतियोगिता की भांति एकाधिकार में अल्पकाल एवं दीर्घकाल में वस्तुओं के मूल्य एवं उत्पादन विभिन्न होते हैं। मूल्य निर्धारण में समय तत्व का महत्व अधिक होता है। इसलिये अल्पकाल में किसी भी फर्म को असामान्य लाभ, सामान्य लाभ तथा हानि हो सकती है।

1 असामान्य लाभ (Abnormal Profit)

एकाधिकारी उत्पादन तथा कीमत वहाँ निर्धारित करेगा जहाँ पर सीमान्त आगम (MR) व सीमान्त लागत (MC) के बराबर हो। फर्म में असामान्य लाभ की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब प्रति इकाई औसत लागत की तुलना में प्रति इकाई मूल्य अधिक होता है अर्थात् AR>AC हो। जिसे (Fig. 9) में दर्शाया गया है।

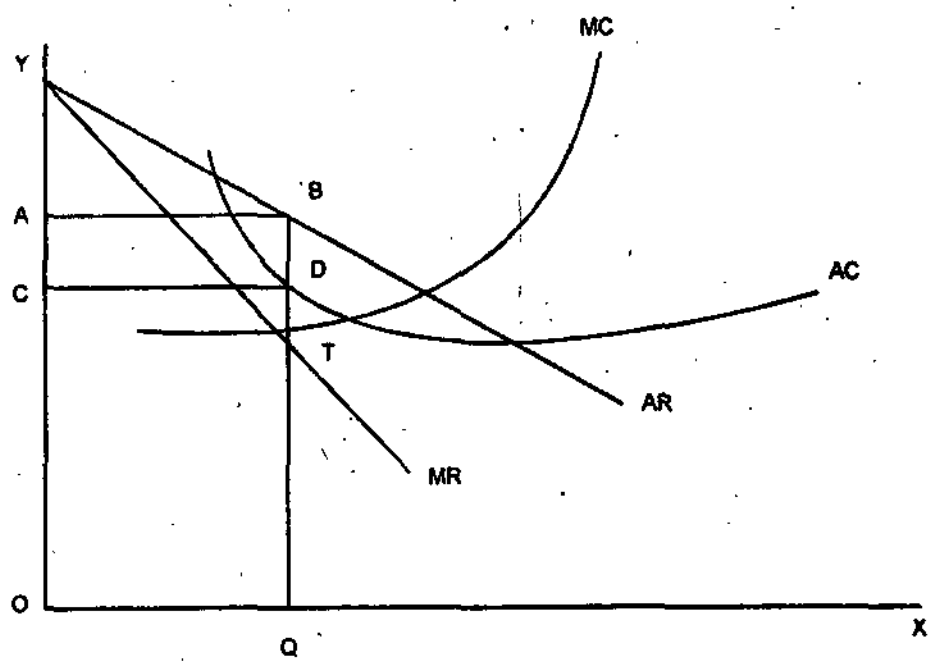

Fig. 9

(Fig. 8) OX अक्ष पर उत्पादन की मात्रा तथा OY अक्ष पर मूल्य तथा लागत को दर्शाया गया है। MC तथा AC सीमान्त लागत व औसत लागत और AR व MR औसत आगम व सीमान्त आगम है। T बिन्दु पर MC = MR है। फर्म की औसत लागत AC औसत आगम AR से कम है। जिसके कारण फर्म को BD लाभ हो रहा है। अतः फर्म OQ उत्पादन पर ABDC कुल लाभ प्राप्त होगा; जिसे असामान्य लाभ कहा गया है।

2. सामान्य लाभ (Normal Profit)

NOTES

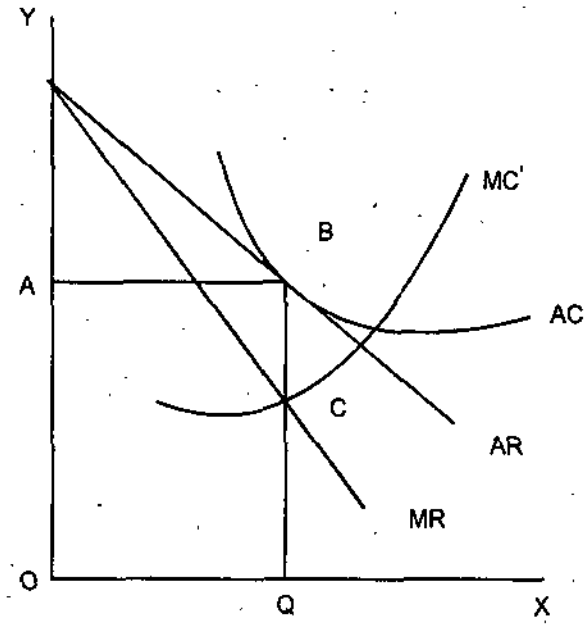

Fig. 10

जब फर्म की प्रति इकाई औसत लागत व प्रति इकाई औसत आगम बराबर होते हैं, अर्थात् AR=AC तब इस स्थिति में एकाधिकारी को सामान्य लाभ प्राप्त होता है। जिसे (Fig. 10) में दर्शाया गया है। OQ उत्पादन है तथा सन्तुलन बिन्दु B है क्योंकि इस बिन्दु पर AR=AC है इसलिये फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त हो रहा है।

3. हानि (Loss)

कभी-कभी एकाधिकरी को भी हानि की स्थिति का सामना करना पड़ जाता है।

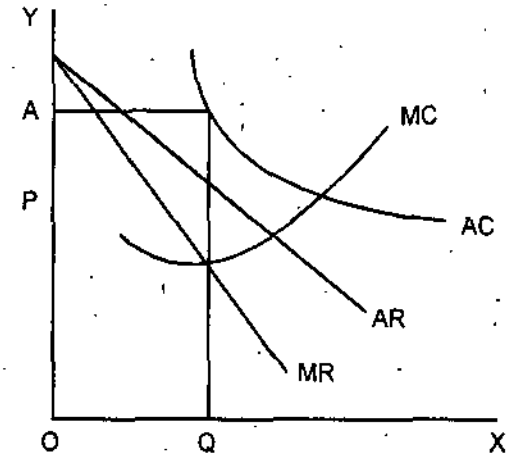

Fig. 11

क्योंकि बाजार की स्थिति सभी समय एक समान नही होती है। अल्पकाल में जब किसी एकाधिकारी फर्म की प्रति इकाई औसत लागत व प्रति इकाई औसत आगम से अधिक होती है अर्थात् AC>AR हो तब फर्म को हानि होगी। जिसे अग्रलिखित (Fig. 11) में दर्शाया गया है।

उत्पादन की मात्रा = OQ

प्रति इकाई औसत कीमत = QC

प्रति इकाई औसत लागत = QB

फर्म की कुल हानि = PCBA

एकाधिकार का दीर्घकाल साम्य (Long Period Equilibrium of a Monopolist)

दीर्घकाल में एकाधिकारी असामान्य लाभ कमाता है। क्योंकि अधिक समय मिल जाने के कारण एकाधिकारी वस्तु की मांग की पूर्ति करने में सफल हो जाता है। इसके अतिरिक्त नयी फर्मो के प्रवेश के नियम कड़े होने के कारण अन्य फर्में वस्तुओं के उत्पादन पर एकाधिकार जमाने में वंचित रह जाती हैं। दीर्घकाल में फर्म के सन्तुलन को अग्रलिखित (Fig. 12) में प्रदर्शित किया गया है–

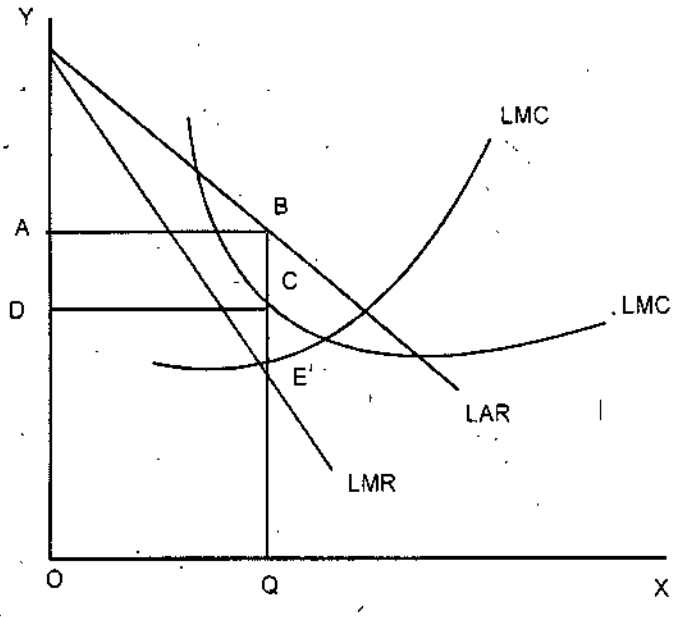

Fig. 12

फर्म के उत्पादन की मात्रा = OQ

फर्म की दीर्घकालीन औसत कीमत = OA

फर्म की दीर्घकालीन औसत लाभ = BC

फर्म की दीर्घकालीन लाभ = ABCD

4.6 मूल्य विभेद (Price Discrimination)

मूल्य विभेद से तात्पर्य है कि एक ही समय पर एक ही वस्तु को विभिन्न-विभिन्न क्रेताओं को अलग-अलग मूल्य पर बेचना। इसे विवेचनात्मक एकाधिकार, भेदपूर्ण एकाधिकार तथा विभेदकारी एकाधिकार आदि नामों से भी

NOTES

जाना जाता है। एकाधिकारी अधिक लाभ अर्जित करने के लिये वस्तुओं को मूल्य में विभेद करता है जिससे वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण किया जा सके।

श्रीमती जॉन राबिन्सन के शब्दों में – "एक ही नियंत्रण के अन्तर्गत उत्पन्न एक ही वस्तु को विभिन्न क्रेताओं या उपभोक्ताओं को भिन्न–भिन्न कीमतों पर बेचने की क्रिया को मूल्य विभेद कहा जाता है।"

राबर्ट थॉमस के शब्दों में – "एकाधिकारी नीति की एक प्रकृति यह है कि एक ही वस्तु या सेवा की पूर्ति के भिन्न–भिन्न भागों का उपभोक्ताओं से भिन्न–भिन्न मूल्य लिया जाता है। इस प्रकार का मूल्य विभेद विभिन्न व्यक्तियों विभिन्न व्यवसायों, विभिन्न क्षेत्रों या एक समुदाय अथवा विभिन्न समुदाओं के मध्य हो सकता है।"

स्टिगलर के शब्दों में – "समान वस्तु के लिए दो या दो से अधिक मूल्य वसूल करने का मूल्य विभेद कहते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है जब एकाधिकारी विभिन्न क्रेताओं से एक ही वस्तु को अलग–अलग मूल्य पर बेचने का कार्य करता है उसे ही मूल्य विभेद या कीमत विभेदीकरण कहते हैं।

मूल्य–विभेद के प्रकार (Types of Price Discrimination)

सामान्य रूप से मूल्य विभेद निम्न प्रकार का हो सकता है –

1. व्यक्तिगत मूल्य विभेद (Personal Price Discrimination)

जब एकाधिकारी अपनी ही समरूप वस्तु को विभिन्न व्यक्तियों से भिन्न–भिन्न मूल्य वसूल करता है तो उसे व्यक्तिगत मूल्य विभेद कहते हैं। जैसे–डॉक्टर एवं वकील द्वारा अपनी सेवाओं और सलाह की भिन्न–भिन्न फीस वसूल करना।

2 भौगोलिक मूल्य विभेद (Geographical Price Discrimination)

जब विक्रेता विभिन्न स्थानों नगरों एवं क्षेत्रों के व्यक्तियों से भिन्न–भिन्न कीमत वसूल करता है तब उसे भौगोलिक या स्थानीय मूल्य विभेद कहते हैं। जैसे– एक उत्पादक X वस्तु को अपने देश में कम कीमत पर बेचता है वही दूसरे देश में उसे कम या अधिक कीमत पर भी बेचता है।

3 प्रयोग के अनुसार पर मूल्य विभेद (Price Discrimination According to Use)

प्रत्येक वस्तु के गुण अलग–अलग होते हैं। जिसके कारण उनकी उपयोगिता भी बदल जाती है। उपयोगिता के आधार पर ही एकाधिकारी वस्तुओं में मूल्य विभेद करता है। जो वस्तु अधिक उपयोगी होती है, उसे वस्तु की अधिक कीमत और जो वस्तु कम उपयोगी होती है, उसकी कम कीमत रखी जाती है। उदाहरण के लिये औद्योगिक प्रयोग और घरेलू प्रयोग के लिये विद्युत आपूर्ति भिन्न–भिन्न होती है। जिसके कारण विद्युत की दर भी अलग–अलग होती है।

4. छूट मूल्य विभेद (Discount Price Discrimination)

जब एकाधिकारी अपने ग्राहकों को वस्तु के मूल्य में छूट देकर अलग–अलग कीमत वसूल करता है तो यह छूट मूल्य विभेद कहलाता है। यह छूट वितरक छूट, नकदी छूट, मात्रा छूट गैर मौसमी छूट के रूप में हो सकती है। उदाहरण के लिये एक निश्चित मात्रा से अधिक माल खरीदने पर विक्रेता के द्वारा कुछ मूल्य में से छूट का दिया जाना मूल्य विभेद है।

उपर्युक्त मूल्य विभेद के अतिरिक्त अन्य मूल्य विभेद होते हैं, जैसे– वर्ग मूल्य विभेद में रेलवे, आयु लिंग तथा पद के आधार पर विभिन्न कम्पनियों द्वारा अपने उत्पादित वस्तुओं पर मूल्य विभेद, समय के आधार पर टेलीफोन सेवायें एवं वस्तु की प्रकृति के अनुसार कीमत विभेद किया जाता है।

मूल्य विभेद की शर्तें या दशाएँ (Conditions for Price Discrimination)

एकाधिकारी मूल्य में विभेद निम्न शर्तों या दशाओं में ही कर सकता है जो इस प्रकार है –

(1) एकाधिकारी स्थिति (Monopolistic Situation)

मूल्य में विभेदीकरण करने के लिये आवश्यक है कि फर्म का बाजार में एकाधिकार हो अन्यथा मूल्य में विभेदीकरण करना सम्भव नहीं है। यहाँ बाजार की अन्य दशाओं जैसे – पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता आदि में पूर्णरूप से विभेदीकरण करना सम्भव नहीं हो पाता है।

(2) मांग की लोच में भिन्नता (Difference in Elasticity of Demand)

मूल्य विभेद की नीति के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु की मांग की लोच अलग-अलग बाजारों में भिन्न-भिन्न हो। मूल्य विभेद वस्तु की लोच पर भी निर्भर करता है। यदि वस्तु की मांग पूर्णतया लोचदार है तब वस्तु का विभेदीकरण नहीं किया जा सकता है। इसलिये वस्तु की लोच पूर्णतया बेलोचदार या आंशिक लोचदार हो तभी एकाधिकारी अलग-अलग मूल्य वसूल कर सकता है।

(3) पृथक बाजार (Separate Market)

मूल्य विभेद करने के लिये अधिक बाजारों का होना आवश्यक है क्योंकि एक ही बाजार में मूल्य विभेदीकरण करना सम्भव नहीं हो पाता है। मूल्य विभेद को सफल बनाने के लिए दो या दो से अधिक बाजार एक दूसरे से पृथक और दूर-दूर स्थित होने चाहिए।

(4) क्रय शक्ति अलग-अलग होना (Difference in Purchasing Power)

विभिन्न बाजारों में उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति भिन्न-भिन्न होनी चाहिये जिससे मूल्य विभेद किया जा सके।

(5) परिवहन लागतों में भिन्नता (Difference in Transportation Costs)

विभिन्न-विभिन्न क्षेत्रों के बाजारों में भौगोलिक दूरी अधिक होने के कारण परिवहन लागत अधिक हो जाती है। जिसे मूल्य विभेद द्वारा वसूल किया जाता है।

(6) वस्तु के भिन्न-भिन्न उपयोग (Different Use of Commodity)

कुछ दशाओं में सरकार द्वारा वस्तुओं या सेवाओं की विभिन्न कीमतें लेने की स्वीकृति दे दी जाती है। जैसे– घरेलू एवं औद्योगिक विद्युत की कीमतों में अन्तर या ग्रामीण एवं नगरीय विद्युत की प्रति यूनिट में अन्तर आदि।

(7) उपभोक्ताओं की अज्ञानता (Ignorance of Customer)

वास्तविक रूप से सभी उपभोक्ताओं को बाजार का पूर्णज्ञान नहीं होता है। जिसकी अज्ञानता का लाभ एकाधिकारी वस्तुओं के मूल्य में विभेद करके उठाता है।

(8) वस्तुओं के हस्तान्तरण का अभाव

वस्तु अथवा सेवा की प्रकृति ऐसी हो जिसे एक बाजार से दूसरे बाजार तक हस्तान्तरण करना सम्भव न हो।

विभेदात्मक एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत व उत्पादन का निर्धारण (Price and Output Determination Under Discriminating Monopoly)

एकाधिकारी का उद्देश्य अपने कुल लाभ को अधिकतम करना होता है। इसलिए यह विभिन्न व्यक्तियों से उनकी मांग की लोच के आधार पर विभिन्न कीमतें वसूल करता है। किसी एकाधिकारी को अधिकतम लाभ तब प्राप्त होता है, जब उसके उत्पादन की सीमान्त लागत उसको प्राप्त सीमान्त आगम के बराबर हो जाती है। मूल्य विभेद तभी सम्भव होता है, जब दो बाजार हों तथा दोनों बाजारों में क्रेताओं की मांग की लोच में भिन्नता पाई जाती

NOTES

है। तभी वह दोनों बाजारों में अलग–अलग मूल्य वसूल कर सकेगा। यदि बाजार की लोच पूर्णतः लोचदार होगी तब मूल्य विभेद सम्भव नही है। मूल्य विभेदीकरण की निम्न शर्तें आवश्यक है जिन्हें पीछे दर्शाया गया है।

मूल्य विभेद के अन्तर्गत दो बाजार X और Y में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को (Fig. 13) में दर्शाया गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि X बाजार की लोच की तुलना में Y बाजार की लोच अधिक है। जिससे कारण एकाधिकारी X बाजार की तुलना में Y बाजार में कम कीमत पर वस्तु की अधिक मात्रा बेचता है। जिससे मूल्य विभेदीकरण करके लाभ कमाया जा सके।

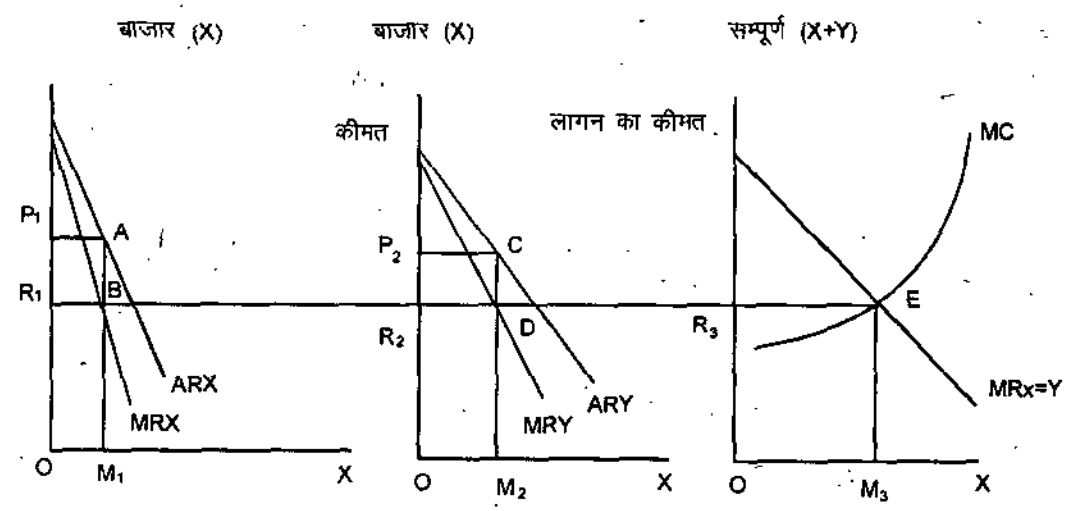

Fig. 13

बाजार Y में कीमत = OP_2

अन्त में कहा जा सकता है कि एकाधिकारी X और Y बाजारों में वस्तु की लोच के आधार पर विभिन्न–विभिन्न कीमतों पर वस्तु को बेचता है। जिससे अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके।

4.7 अपूर्ण व एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता (Imperfect and Monopolistic Competition)

वास्तविक रूप से अर्थव्यवस्था में न तो पूर्ण प्रतियोगिता और न एकाधिकार की स्थिति होती है। अपितु इनके बीच की स्थिति एकाधिकारात्मक की पायी जाती है।

जिसे सर्वप्रथम प्रो० एडवर्ड एच० चैम्बरलिन ने "एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता" की स्थिति की संज्ञा दी है, जिसे श्रीमती जॉन राबिन्सन ने अपूर्ण प्रतियोगिता' कहा है। प्रो० चैम्बरलिन ने वर्ष 1933 में प्रकाशित पुस्तक 'The Theory of Monopolistic Competition' में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का विचार प्रस्तुत किया है।

अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ है प्रतियोगिता का सीमित होना अर्थात् न तो प्रतियोगिता का अभाव हो और न ही प्रतियोगिता पूर्णता लिये हुए हो। दूसरे शब्दों में जब पूर्ण प्रतियोगिता की विभिन्न दशाओं में से किसी भी एक दशा का अभाव होता है तब अपूर्ण प्रतियोगिता जन्म लेती है। स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता के लिए विशुद्ध प्रतियोगिता में अपूर्णता होना जरूरी है।

फेयर चाइल्ड ने कहा है, "यदि बाजार उचित प्रकार से संगठित न हो, यदि क्रेता और विक्रेताओं के पारस्परिक सम्पर्क में कठिनाई उत्पन्न होती हो तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा खरीदी गई वस्तुओं और दिये गये मूल्यों के ज्ञात करने में समर्थन न हो, तो ऐसी स्थिति को हम अपूर्ण प्रतियोगिता कहते हैं।"

अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण एवं विशेषताएँ (Causes and Characteristics of Imperfect competition)

अपूर्ण प्रतियोगिता को जन्म देने वाले प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं, जिन्हें विशेषता भी कहा जाता है–

(1) अल्प संख्या में क्रेता व विक्रेता – अपूर्ण प्रतियोगिता में क्रेता और विक्रेता की संख्या कम होती है और व्यक्तिगत क्रेता या विक्रेता वस्तु की कीमत को प्रभावित कर सकते हैं।

(2) वस्तु की इकाइयों में अन्तर – अपूर्ण प्रतियोगिता में विभिन्न विक्रेताओं द्वारा निर्मित वस्तुएँ बिल्कुल एक जैसी नहीं होतीं बल्कि उनमें कुछ अन्तर होता है। यह अन्तर आकार, रंग, रूप, किस्म, पैकिंग, ब्रान्ड, ट्रेडमार्क, विक्रेता के व्यवहार अथवा दुकान की स्थिति के कारण हो सकता है। इस अन्तर के कारण विभिन्न विक्रेताओं की वस्तुएं एक दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न तो नहीं होती है परन्तु निकट स्थानापन्न होती हैं।

(3) क्रेताओं और विक्रेताओं में अज्ञानता – क्रेताओं और विक्रेताओं की अज्ञानता के कारण अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उन्हें बाजार का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण अलग-अलग मूल्यों पर वस्तु का क्रय विक्रय करते हैं।

(4) क्रेताओं में आलस्य – यह सम्भव है कि क्रेताओं को इस बात की जानकारी हो कि कौन सी वस्तु किस स्थान पर सस्ती मिल रही है, फिर भी वे आलस्य के कारण अपने आस-पास से ही महँगी वस्तु का क्रय कर लेते हों।

(5) अधिक यातायात व्यय – अपूर्ण प्रतियोगिता का एक महत्वपूर्ण कारण यातायात व्यय है। एक ही वस्तु की विभिन्न स्थानों पर लाने ले जाने में ऊँची यातायात व्यय आती है अतः एक ही वस्तु के विभिन्न स्थानों पर अनेक मूल्य प्रचलित होते हैं।

अपूर्ण प्रतियोगिता के प्रकार (Types of Imperfect competition)

अपूर्ण प्रतियोगिता के कई रूप हो सकते हैं जो मुख्य रूप से विक्रेताओं की संख्या तथा वस्तु विभेद के अंश पर निर्भर करते हैं। इस दृष्टि से अपूर्ण प्रतियोगिता की निम्न तीन बाजार स्थितियाँ बतायी जाती हैं –

(i) एकाधिकृत या एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता (Monopolistic Competition)

(ii) द्वि-अल्पाधिकार या द्वयाधिकार प्रतियोगिता (Duopoly Competition)

(iii) अल्पाधिकार या अल्प विक्रेताधिकार प्रतियोगिता (Oligopoly Competition)

1. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ व परिभाषा (Meaning and definitions of Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता से अभिप्राय उस अवस्था से है जिसमें विक्रेता वस्तुओं में इतना विभेद पाया जाता है कि वे एक-दूसरे की पूर्ण स्थानापन्न नहीं होतीं। प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता का अपनी वस्तु पर पूर्ण एकाधिकार तो होता हैं, परन्तु चूँकि उसे बाजार में अपूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है, इसलिए ऐसी अवस्था को एकाधिकारात्मक अवस्था कहते हैं। उदाहरण के लिए भारत में सिगरेट के कुछ उत्पादक है, जो अलग–अलग प्रकार के सिगरेट (कोई पनामा, कोई चारमीनार इत्यादि) का उत्पादन करते हैं। इन विभिन्न प्रकार के सिगरेटों के गुणों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, केवल इनके अलग–अलग ट्रेड मार्क हैं और अलग-अलग नाम से ये बेचे जाते हैं। दूसरे शब्दों में, विभिन्न प्राकर के सिगरेटों के ब्रांडों के बीच प्रतियोगिता तो है किन्तु पूर्ण नहीं। इसका कारण यह है कि सिगरेटों के उत्पादक तो बहुत है, परन्तु इनके उत्पादन में विभिन्नता पायी जाती है। अर्थात् वे अलग-अलग ब्रांड की सिगरेटों का उत्पादन करते हैं।

NOTES

चैम्बरलिन के शब्दों में – "एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता बाजार का वह रूप है जिसमें बहुत सी छोटी फर्में होती हैं और उनमें से प्रत्येक मिलती-जुलती वस्तुएँ बेचती हैं, परन्तु वस्तुएँ एकरूप नहीं होती है और वस्तुओं में थोड़ा अन्तर होता है।"

प्रो. रिचार्ड एच. लेफ्टविच के शब्दों में – "एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा के बाजार में एक विशेष किस्म की वस्तु के अनेक विक्रेता होते हैं तथा एक विक्रेता की वस्तु किसी न किसी रूप में दूसरे विक्रेता से भिन्न होती है जब विक्रेताओं की संख्या इतनी अधिक होती है कि एक विक्रेता के कार्यों का दूसरे विक्रेता के कार्यों पर कोई स्पष्ट प्रभाव न पड़े तो यह उद्योग एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का उद्योग बन जाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार कहा जा सकता है कि एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा का अभिप्राय बाजार की एक ऐसी मिश्रित स्थिति से है जिसके अन्तर्गत पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा एकाधिकार दोनो के गुण पाये जाते हैं।

2. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की विशेषताएं (Characteristics of Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता बाजार में निम्न विशेषताएं पायी जाती हैं –

(1) स्वतन्त्र विक्रेताओं की अधिक संख्या।

(2) एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत वस्तुओं में विभेद पाया जाता है।

(3) बाजार में गैर मूल्य प्रतियोगिता विद्यमान है।

(4) नयी फर्मों का प्रवेश एवं बर्हिगमन।

(5) दीर्घकाल में इस प्रतियोगिता में सामान्य लाभ प्राप्त होता है। क्योंकि फर्मों का प्रवेश स्वतन्त्र एवं बर्हिगमन आसान हो जाता है।

(6) विज्ञापन एवं विक्रय लागतों की उपस्थिति।

(7) क्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान का अभाव होता है।

(8) प्रत्येक फर्म की अपनी नीति होती है पूर्ण प्रतियोगिता की भांति एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म कीमत प्राप्तकर्ता नहीं होता।

3. एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में मूल्य एवं उत्पादन का निर्धारण (Price and Output Determination Under Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में मूल्य का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है जहाँ उसकी MR और MC बराबर होती है।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत अल्पकाल तथा दीर्घकाल में उत्पादन एवं मूल्य का निर्धारण अलग-अलग होता है –

(i) अल्पकाल में उत्पादन व मूल्य का निर्धारण (Price and Output Determination Under Short Period) –

(ii) दीर्घकाल में उत्पादन व मूल्य का निर्धारण (Price and Output Determination Under Long Period) –

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकाल में फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा क्योंकि नयी फर्मो के आ जाने के कारण अतिरिक्त लाभ बढ़ जाता है, और सामान्य लाभ : । फर्मों को प्राप्त होता है। दीर्घकाल में फर्म की सीमान्त आगम (MR) और सीमान्त लागत (MC) और औसत आगम (AR) व औसत लागत (AC) बराबर होनी आवश्यक है। दीर्घकाल में फर्म के सन्तुलन को (Fig. 14) में दर्शाया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि फर्म को दीर्घकाल में सामान्य लाभ प्राप्त होता है।

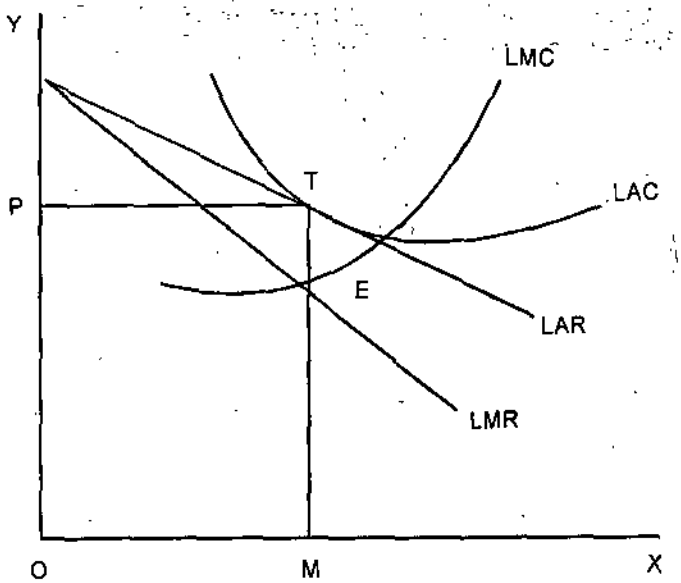

Fig. 14

दीर्घकाल में फर्म का साम्य बिन्दु = E

कुल उत्पादन की मात्रा = OM

प्रति इकाई औसत लागत = MT

प्रति इकाई औसत आगम = MT

अर्थात् LAR = LAC

इसलिए फर्म को दीर्घकाल में सामान्य लाभ प्राप्त होगा।

द्वयाधिकार प्रतियोगिता (Duopoly Competition)

द्वयाधिकार से अभिप्राय, बाजार की उस स्थिति से है, जिसमें किसी एक ही सर्वथा समान अथवा लगभग समान वस्तु के दो उत्पादक होते हैं। दोनों ही अपने उत्पादन कार्य में स्वतंत्र होते हैं एवं दोनों की वस्तुएँ एक-दूसरे से प्रतियोगिता करती हैं। यदि एक विक्रेता अपनी उपज अथवा कीमत सम्बन्धी नीति में परिवर्तन करता है, तो दूसरे की ओर से इसकी बलशाली प्रतिक्रिया होती है।

इस प्रकार दोनों विक्रेताओं में से कोई भी बिना दूसरे की प्रतिक्रिया को ध्यान में रखे उत्पादन की मात्रा अथवा कीमत को निश्चित नहीं कर सकता।

डॉ जोन (Dr. John) के शब्दों में "द्वि-विक्रेता एकाधिकार बाजार की वह स्थिति है, जिसमें किसी एक ही सर्वथा समान अथवा लगभग समान वस्तु के दो उत्पादक होते हैं, जो अपने बीच कीमत अथवा उत्पादन मात्रा के विषय में किसी भी प्रकार के समझौते से बाध्य नहीं होते।"

अल्पाधिकार की भाँति द्वयाधिकार में भी दोनों विक्रेताओं के बीच पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है लेकिन फिर भी इन दोनों के बीच "कीमत युद्ध" की संभावना बहुत कम होती है। इसका कारण यह है कि केवल मात्र दो विक्रेता होने से इन दोनों के बीच समझौता आसानी से हो जाता है और दोनों ही ऊंची कीमत का लाभ आपस में मिलकर बाँट लेते हैं। हाँ, भेदित द्वयाधिकार की स्थिति में दोनों विक्रेता का बाजार अलग-अलग होता है और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में एकाधिकारी की भाँति कार्य करते हैं और वस्तु की कीमत भी एकाधिकारी की तरह निर्धारित करते हैं।

NOTES

द्वयाधिकार की विशेषताएँ (Characteristics of Duopoly)

द्वयाधिकार बाजार की निम्न विशेषताएँ होती हैं –

(1) यह एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जिनमें केवल दो ही उत्पादक होते हैं।

(2) दोनों सर्वथा समान अथवा लगभग समान वस्तु का विक्रय करते हैं।

(3) दोनों ही अपने उत्पादन कार्य में स्वतंत्र होते हैं तथा दोनों की वस्तुएँ एक दूसरे से प्रतियोगिता करती हैं।

(4) अतः प्रत्येक प्रतिस्पर्धा को स्वयं अपनी नीति का निर्धारण करने में दूसरे प्रतिस्पर्धा की नीति को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। अर्थात् दोनों विक्रेताओं के बीच पारस्परिक निर्भरता पायी जाती है।

(5) द्वयाधिकार नामक बाजार स्थिति एकाधिकार के अधिक निकट मानी जाती है, क्योंकि कुछ विशेषताएं एकाधिकार जैसी होती हैं।

(6) जब दो विक्रेता एक रूप एवं एक गुण जैसी वस्तु बेचते हैं तब उसे विशुद्ध द्वयाधिकार कहते हैं।

फ्रांस के अर्थशास्त्री कूर्नो (Cournot) तथा इंग्लैण्ड के अर्थशास्त्री एजवर्थ (Edgeworth) ने सर्वप्रथम द्वयाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण की समस्या का अध्ययन किया और उस समस्या के समाधन के लिए सुनियोजित मॉडल प्रस्तुत किए। इन अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत समाधान की परम्परावादी सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में जिन्होंने द्वयाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण की समस्या का अध्ययन किया उनमें चैम्बरलिन (Chemberline), बॉमोल (Banumol), स्वीजी (Sweazy) आदि अर्थशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय है।

एकाधिकार और एकाधिकृत प्रतियोगिता में अन्तर (Distinction Between Monopoly and Monopolistic Competition)

एकाधिकार और एकाधिकृत प्रतियोगिता वाले बाजार में निम्नलिखित समानताएँ और असमानताएँ हैं –

समानताएँ :

1. दोनों बाजारों में साम्य वहाँ स्थापित होता है जहाँ सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है।
2. दोनों में ही मांग-वक्र अथवा औसत आय-वक्र नीचे दायीं ओर ढाल वाला होता है और उसके अनुरूप सीमान्त आय-वक्र मांग-वक्र के नीचे स्थित होता है।
3. दोनों बाजार अवस्थाओं में साम्य बिन्दु औसत आय रेखा अर्थात् मांग रेखा अथवा कीमत रेखा से नीचे स्थित होता है।
4. दोनों अवस्थाओं में अतिरिक्त क्षमता पायी जाती है अर्थात् दीर्घकालीन औसत लागत-वक्र को मांग-वक्र इसके न्यूनतम बिन्दु पर स्पर्श नहीं करता।
5. दोनों बाजारों में ही उत्पादक कीमत-निर्माता होते हैं अर्थात् वे अपनी इच्छानुसार कीमत में परिवर्तन कर सकते हैं।

असमानताएँ :

(1) एकाधिकार के अन्तर्गत एक वस्तु का केवल एक ही उत्पादक होता है जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में उत्पादकों की संख्या बहुत होती हैं।

(2) एकाधिकार में उद्योग और फर्म में कोई अन्तर नहीं पाया जाता जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में अनेक फर्में होती हैं तथा इसमें उद्योग को समूह कहते हैं।

(3) एकाधिकार में वस्तु-विभेद नहीं पाया जाता क्योंकि इसमें एक ही वस्तु का उत्पादन किया जाता है। इसके

विपरीत एकाधिकृत प्रतियोगिता में वस्तुएँ आकार, डिजाइन, रंग, पैकिंग, सुगन्ध आदि के कारण एक-दूसरे से भिन्न रहती हैं जिससे वस्तु-विभेद पाया जाता है।

(4) एकाधिकार में सामान्यतया विक्रय लागतों का अभाव रहता है परन्तु एकाधिकृत प्रतियोगिता में फर्मों की संख्या अधिक होने पर प्रतियोगिता के कारण विक्रय लागतों पर व्यय करना अनिवार्य होता है।

(5) एकाधिकार में वस्तुएँ निकट स्थानापन्न नहीं होतीं जिनके कारण वस्तु की मांग कम लोचदार होती है। इसके विपरीत एकाधिकृत प्रतियोगिता में वस्तुएँ निकट स्थानापन्न होती हैं। जिससे हर फर्म की वस्तु की मांग अधिक लोचदार होती है।

(6) वस्तु की कीमत निश्चित करने में जितनी स्वतंत्रता एकाधिकारी को होती है, उतनी एकाधिकृत प्रतियोगी फर्म को नहीं होती। एकाधिकारी वस्तु की कीमत भी सामान्यतया एकाधिकृत प्रतियोगिता में वस्तु की कीमत से अधिक होती हैं।

(7) एकाधिकार में एकाधिकारी का वस्तु की कीमत अथवा पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण होने के कारण कोई भी फर्म एकाधिकारी उद्योग में प्रवेश नहीं कर सकती इसके विपरीत एकाधिकृत प्रतियोगिता में दीर्घकाल में फर्में समूह में प्रवेश कर सकती हैं और उससे बाहर भी जा सकती हैं, क्योंकि इस बाजार अवस्था में प्रतियोगिता का अंश भी पाया जाता है।

(8) एकाधिकार में फर्मों के प्रवेश का भय न होने के कारण एकाधिकारी दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ कमाता है जबकि फर्में एकाधिकृत प्रतियोगिता में दीर्घकाल में सामान्य लाभ ही अर्जित करती है क्योंकि फर्मों का बहिर्गमन और प्रवेश समूह में होता रहता है।

पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता में अन्तर (Difference Between Perfect & Imperfect or Monopolistic Competition)

1. **क्रेता और विक्रेताओं की संख्या** – पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेता और विक्रेता बहुत अधिक संख्या में होते हैं, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है।
2. **वस्तु** – पूर्ण प्रतियोगिता में निर्मित व बिक्रीत वस्तुएँ एकरूप होती हैं, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में वस्तु विभेद होता है अर्थात् वस्तु में गुण, रूप, पैकिंग, ट्रेडमार्क, वजन आदि में अन्तर होता है।
3. **बाजार ज्ञान** – पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेताओं और विक्रेताओं को बाज़ार की पूर्ण जानकारी होती है, जबकि अपूर्ण अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता में क्रेता और विक्रेता को बाजार का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है।
4. **फर्मों का प्रवेश व बहिर्गमन** – पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग में नयी फर्मों का प्रवेश व पुरानी फर्मों का बहिर्गमन बहुत सरल होता है, जबकि अपूर्ण अथवा एकाधिकृत प्रतियोगिता में फर्मों का प्रवेश व बहिर्गमन हो सकता है लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति बहुत सरल नहीं होता है।
5. **मूल्य निर्धारण** – पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग मूल्य निर्धारित करती है और प्रत्येक फर्म मूल्य ग्रहण करने वाली (Price Taker) होती है और प्रत्येक फर्म द्वारा स्वीकृत होती है, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में प्रत्येक फर्म एक सीमा तक मूल्य को प्रभावित और निर्धारित करती है।
6. **मूल्यों में समानता** – पूर्ण प्रतियोगिता में सम्पूर्ण बाजार में एक समान मूल्य पाया जाता है और यह मूल्य सभी क्षेत्रों के बाजारों में एक समान होता है, जबकि अपूर्ण प्रतियोगी बाजार में मूल्य अलग-अलग होता है।
7. **माँग रेखा का स्वरूप** – पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म के लिए माँग रेखा (अर्थात् औसत आगम रेखा) एक समानान्तर पड़ी रेखा होती है, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में माँग रेखा बायें से दायें नीचे की ओर झुकती हुई होती है।
8. **सीमान्त और औसत आगम** – पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आगम (AR) और सीमान्त आगम (MR)

NOTES

दोनों बराबर होते हैं और एक ही रेखा द्वारा दोनों दिखायें जाते हैं, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता में औसत आगम (AR) सीमान्त आगम (MR) से अधिक होती है।

9. **परिवहन एवं विक्रय लागत** – पूर्ण प्रतियोगी बाजार की इस दशा में परिवहन एवं विक्रय लागतें नहीं होती हैं, जबकि अपूर्ण बाजार में परिवहन एवं विक्रय लागतें होती हैं।
10. **गैर मूल्य प्रतियोगिता** – पूर्ण प्रतियोगिता बाजार में फर्मों के बीच गैर मूल्य प्रतियोगिता नहीं होती है, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता बाजार में गैर मूल्य प्रतियोगिता जैसे– आकर्षक पैकिंग, आसान उधार, विज्ञापन, घर पर माल पहुँचाने आदि का महत्वपूर्ण स्थान होती है।
11. **वास्तविकता** – पूर्ण प्रतियोगी बाजार एक काल्पनिक स्थिति है जो व्यावहारिक जीवन में नहीं पायी जाती है, जबकि एकाधिकृत प्रतियोगिता बाजार एक वास्तविक स्थिति है जो बाजार में पायी जाती है।

4.8 अल्पाधिकार (Oligopoly)

जब किसी बाजार में वस्तु के उत्पादन या विक्रय पर कुछ फर्मों का आधिपत्य होता है, उसे अल्पाधिकार की अवस्था कहते हैं। (Oligopoly) शब्द ग्रीक भाषा के 'Oligo' तथा 'Poly' से मिलकर बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'अल्प' तथा 'विक्रेता' अर्थात् अल्प विक्रेता। सामान्य रूप से अल्पाधिकारी बाजार वह बाजार होता हैं, जिसमें दो से अधिक तथा बीस से कम विक्रेता होते हैं, उसे अल्पाधिकार बाजार कहते हैं।

मेयर्स के अनुसार –"अल्पाधिकार बाजार की उस अवस्था को कहते हैं, जहाँ विक्रेताओं की संख्या इतनी कम होती है कि प्रत्येक विक्रेता बाजार की कीमत पर प्रभाव पड़ता है तथा प्रत्येक विक्रेता इस बात को जानता है।"

प्रो. स्टिगलर के अनुसार –"अल्पाधिकार वह स्थिति होती है जिसमें कोई फर्म अपनी बाजार नीति कुछ निकट प्रतियोगिता के सम्भावित व्यवहार पर स्थापित करती है।"

प्रो. लेफ्टविच के अनुसार – 'बाजार की उस दशा को अल्पाधिकार कहते हैं जिसमें थोड़ी संख्या में विक्रेता पाये जाते हैं तथा प्रत्येक विक्रेता की क्रियायें दूसरों के लिए महत्वपूर्ण होती है।'

अल्पाधिकार की विशेषताएँ (Characteristics of Oligopoly)

एक अल्पाधिकारी बाजार में निम्न विशेषताएं पाई जाती है–

(1) अल्पाधिकार बाजार में विक्रेताओं की संख्या अल्प होती है।
(2) अल्पाधिकार बाजार में कीमत स्थिरता पायी जाती है।
(3) अल्पाधिकारी उद्योग में नयी फर्मों का प्रवेश कठिन होता है।
(4) अल्पाधिकार की दशा में प्रायः सभी फर्में विज्ञापन और विक्रय प्रोत्साहन पर अधिक ध्यान देती है।
(5) अल्पाधिकार बाजार में फर्में समरूप एवं विभेदित दोनों प्रकार की वस्तु का निर्माण करती है।
(6) बाजार के अन्य प्रकारों की तुलना में अल्पाधिकार की स्थिति में फर्मों की मांग वक्र बहुत अनिश्चित होती है।
(7) अल्पाधिकार में उत्पादन कार्य में लगी हुई सभी फर्में एक दूसरे पर निर्भर होती हैं अर्थात एक दूसरे पर आश्रित होती हैं।
(8) फर्मों में एकरूपता का अभाव पाया जाता है।

अल्पाधिकार में मूल्य व उत्पादन का निर्धारण (Price and Output Determination Under Oligopoly)

अल्पाधिकार बाजार के अन्तर्गत कीमत व उत्पादन का निर्धारण सामान्यतः निम्नांकित तीन विधियों से हो सकता है

(i) स्वतन्त्र मूल्य निर्धारण (Independent pricing)

(ii) गुटबन्दी के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Pricing Under Collusion)

(iii) मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Pricing Under Price Leadership)

स्वतन्त्र मूल्य निर्धारण (Independent pricing)

सामान्य रूप से बाजार में स्वतन्त्र प्रतियोगिता होती है, जिसके कारण उद्योग एवं फर्में अपने-अपने मूल्य निर्धारण करने में स्वतन्त्र होती है। सभी फर्में बाजार से अधिक लाभ कमाने के चक्कर में कम मूल्य पर भी वस्तु बेचना प्रारम्भ कर देती हैं। जिसके कारण बाजार में कीमत युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। परिणामतः कमजोर फर्म बाजार से बाहर हो जाती हैं।

गुटबन्दी के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Pricing Under Collusion)

स्वतन्त्र मूल्य निर्धारण की हानियों, अनिश्चितताओं तथा असुरक्षा आदि जो उत्पन्न होती है उससे बचने के लिए अल्पाधिकारी फर्में मूल्य तथा उत्पादन की मात्रा के सम्बन्ध में कभी–कभी आपस में समझौता कर लेती हैं जिसे गुटबन्दी कहते हैं। गुटबन्दी से तात्पर्य है कि उसके अन्तर्गत विक्रेताओं के बीच कीमत व उत्पादन मात्रा आदि के सम्बन्ध में किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समझौता हो जाता है। गुटबन्दी दो प्रकार की होती है–

(अ) पूर्ण गुटबन्दी (Perfect Collusion),

(ब) अपूर्ण गुटबन्दी (Imperfect Collusion).

(अ) पूर्ण गुटबन्दी (Perfect Collusion)

इसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की जाती है जिसे कार्टेल (Cartel) कहते हैं। कार्टेल के द्वारा गुट के कभी फर्मों के लिए उत्पादन की मात्रा और मूल्य निर्धारित किया जाता है और व्यक्तिगत फर्मों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। कार्टेल उत्पादन की मात्रा और मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित करती है जहाँ पर उद्योग की कुल सीमान्त लागत (TMC) उद्योग की कुल सीमान्त आगम (TMR) के बराबर हो जाती है। इसे अग्र रेखाचित्र में प्रदर्शित किया गया है।

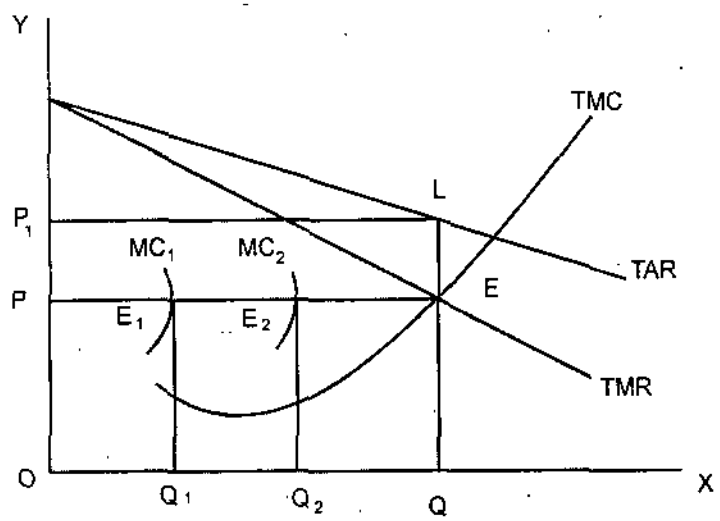

Fig. 15

NOTES

(Fig. 15) में TMR और TMC वक्र E बिन्दु पर बराबर हो जाते है अतः सम्पूर्ण उद्योग के द्वारा OQ उत्पादन किया जाता हे जिसका मूल्य औसत आगम (TAR) से OP_1 ज्ञात होती है। इस कुल उत्पादन OQ का विभाजन दो अल्पाधिकारी फर्मों में OQ_1 और OQ_2 के बराबर होगा जो कुल उत्पादन मात्रा के बराबर होगा।

पूर्ण गुटबन्दी की स्थिति काल्पनिक एंव अस्थायी होती है क्योंकि इसमें उत्पादन कोटा के विभाजन पर सदस्य फर्मों में मतभेद हो जाता है और वे गठबन्धन को छोड़ देती हैं। सरकारी हस्तक्षेप भी पूर्ण गठबन्धन की नीति में बाधा पहुँचाता है।

(ब) अपूर्ण गुटबन्दी (Imperfect Collusion)

इसके अन्तर्गत कोई केन्द्रीय संस्था या कार्टेल नहीं होती है बल्कि उद्योग की समस्त फर्में वस्तु के मूल्य और उत्पादन मात्रा के सम्बन्ध में 'भले आदमियों का समझौता' (Gentlemen's Agreement) कर लेती हैं। प्रत्येक फर्म को कुछ सीमा तक कीमत और उत्पादन मात्रा निर्धारण की स्वतन्त्रता होती है परन्तु मूल्य युद्ध से बचने के लिए आपसी सहमति का रास्ता अपनाया जाता है। वास्तविक जीवन में गुटबन्दी का यह स्वरूप अधिक देखने को मिलता है। अपूर्ण गुटबन्दी का सर्वाधिक प्रचलित रूप मूल्य नेतृत्व होता है।

मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Pricing Under Price Leadership)

मूल्य नेतृत्व उस स्थिति को कहते हैं जिसमें किसी एक फर्म द्वारा तय किये गये मूल्य को अन्य अल्पाधिकारी फर्में स्वीकार कर लेती हैं। जो फर्म मूल्य निर्धारण और परिवर्तन में पहल करती है उसे मूल्य नेता (Price Leader) कहते हैं। बाकी सब फर्में जो नेता के मूल्य का अनुसरण कहती हैं उन्हें मूल्य अनुयायी (Price Follower) कहते हैं। आर्थर बर्न्स (Arther Burns) के अनुसार, "यदि एक ही फर्म द्वारा सदैव या प्रायः मूल्य में परिवर्तन किये जाते हैं और अन्य विक्रेता मूल्य के इन्हीं परिवर्तनों का अनुसरण कहते हैं तो इस प्रकार की मूल्य स्पर्धा मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत आती है।" मूल्य नेतृत्व वह नीति है जिसमें उद्योग की अधिकांश इकाइयाँ उसके एक सदस्य द्वारा निर्धारित किये गये मूल्य को अपनाते हैं।

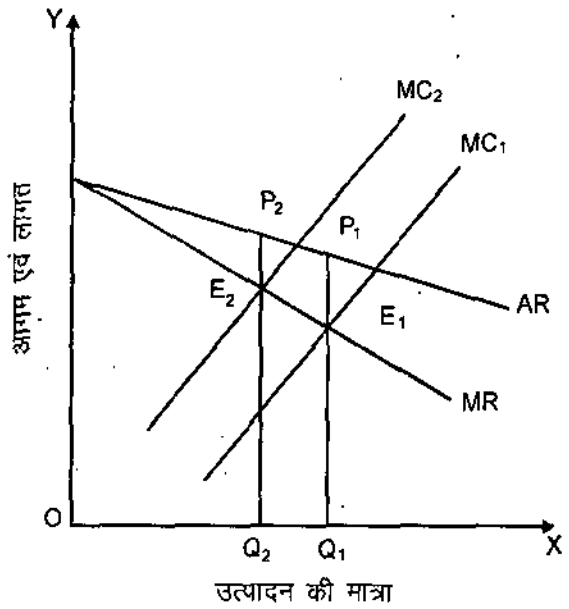

Fig. 16

मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत नेतृत्व करने वाली फर्म बड़ी होती है तथा वस्तु के कुल उत्पादन में उसका बड़ा हिस्सा होता है। शेष फर्में छोटे आकार की होती हैं जो कम मात्रा में उत्पादन करती हैं। अतः सभी छोटी फर्में बड़ी एवं अनुभवी फर्म द्वारा निर्धारित मूल्य पर विक्रय करती हैं। यह नीति 'सत्ता शक्तिशाली के हाथ में' (Survival

of the fittest) के सिद्धान्त पर आधारित है। भारत में सेल (Steel Authority of India Limited - SAIL) इस्पात उद्योग में मूल्य नेतृत्व का उदाहरण है।

मूल्य नेतृत्व के अन्तर्गत अल्पाधिकार मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को (Fig. 15) में प्रदर्शित किया गया है। MC_1 तथा MC_2 दो फर्मों की अलग-अलग सीमान्त लागत की रेखाएँ हैं। AR और MR औसत आगम और सीमान्त आगम की रेखाएँ हैं जो दोनों फर्मों के लिए एक समान है। फर्म जिसकी सीमान्त लागत MC_1 कम है वह E_1 बिन्दु पर $MR = MC_1$ के होने पर OQ_1 मात्रा का उत्पादन $P_1 Q_1$ मूल्य पर करेगी। दूसरी फर्म जिसकी सीमान्त लागत MC_2 पहली फर्म से अधिक है वह E_2 सन्तुलन बिन्दु पर $MR = MC_2$ होने पर OQ_2 मात्रा का उत्पादन $P_2 Q_2$ मूल्य पर करेगी। पहली फर्म का मूल्य दूसरे से कम है ओर उत्पादन भी अधिक है। अतः पहली फर्म मूल्य नेता होगी और उसके द्वारा निर्धारित मूल्य ही दूसरी फर्म द्वारा अनुसरण कर ली जायेगी। इस प्रकार मूल्य नेता का कम मूल्य ही प्रचलित मूल्य होगा।

अल्पाधिकार और एकाधिकार में अन्तर (Distinction Between Oligopoly and Monopoly)

संख्या

अल्पाधिकार में एक वस्तु के थोड़े से विक्रेता होते हैं जबकि एकाधिकार में वस्तु का केवल एक ही विक्रेता होता है।

वस्तु

(अ) अल्पाधिकार में वस्तु समरूप हो सकती है और वस्तु विभेद भी पाया जा सकता है जबकि एकाधिकार में एक विक्रेता के साथ एक ही वस्तु पर विचार किया जाता है।

(ब) अल्पाधिकार में वस्तु के निकट के स्थानापन्न पदार्थ पाये जा सकते हैं जबकि एकाधिकार में वस्तु के स्थानापन्न पदार्थ नहीं पाये जाते।

प्रतिद्वन्दी फर्म का प्रभाव

अल्पाधिकार में एक फर्म के कीमत-उत्पत्ति निर्णय दूसरी प्रतिद्वन्दी फर्मों के कीमत उत्पत्ति निर्णयों को अवश्य प्रभावित करते हैं जबकि एकाधिकारी के कार्यों पर अन्य फर्मों के कार्यों का एवं उसके कार्यों का अन्य फर्मों के कार्यों पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

माँग-वक्र

अल्पाधिकार में एक फर्म के माँग-वक्र या औसत आय-वक्र का पता लगाना प्रायः कठिन होता है जबकि एकाधिकार में फर्म के माँग-वक्र या औसत आय-वक्र का पता लगाया जा सकता है।

विज्ञापन

अल्पाधिकार में फर्में विज्ञापन का व्यापक रूप से उपयोग करती हैं और अपनी वस्तु की डिजाइन सुधारने पर भी विशेष ध्यान देती हैं जबकि एकाधिकारी फर्म को बहुधा विज्ञापन का सहारा नहीं लेना पड़ता और अपनी वस्तु की डिजाइन को सुधारने पर भी विशेष ध्यान नहीं देना पड़ता।

सारांश

- पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की वह स्थिति है, जिसमें क्रेता और विक्रेता अधिक संख्या में होते हैं, उनमें पूर्ण एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता पाई जाती है और कोई भी क्रेता अथवा विक्रेता वस्तु विशेष की कीमत को अपने क्रय-विक्रय द्वारा प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होता।

NOTES

- एकाधिकार पूर्ण प्रतियोगिता के बिल्कुल विपरीत होता है। एकाधिकार शब्द का उदगम दो ग्रीक शब्द 'MONOS' तथा 'POLUS' से हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'अकेला' (Single) और 'विक्रेता' (Seller) है। अतः एकाधिकार बाजार की वह अवस्था है, जिसमें वस्तु का केवल एक ही विक्रेता होता है, तथा उस वस्तु की उत्पादन एवं पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है।
- मूल्य विभेद से तात्पर्य है कि एक ही समय पर एक ही वस्तु को विभिन्न-विभिन्न क्रेताओं को अलग-अलग मूल्य पर बेचना। इसे विवेचनात्मक एकाधिकार, भेदपूर्ण एकाधिकार तथा विभेदकारी एकाधिकार आदि नामों से भी जाना जाता है। एकाधिकारी अधिक लाभ अर्जित करने के लिये वस्तुओं के मूल्य में विभेद करता है जिससे वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण किया जा सके।
- अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ है प्रतियोगिता का सीमित होना अर्थात् न तो प्रतियोगिता का अभाव हो और न ही प्रतियोगिता पूर्णता लिये हुए हो। दूसरे शब्दों में जब पूर्ण प्रतियोगिता की विभिन्न दशाओं में से किसी भी एक दशा का अभाव होता है तब अपूर्ण प्रतियोगिता जन्म लेती है। स्पष्ट है कि अपूर्ण प्रतियोगिता के लिए विशुद्ध प्रतियोगिता में अपूर्णता होना जरूरी है।

मूल्यांकन प्रश्न

1. विभेदात्मक एकाधिकार से आप क्या समझते हैं?
2. एकाधिकार और एकाधिकृत प्रतियोगिता में क्या अन्तर है?
3. एकाधिकारी प्रतियोगिता की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।
4. पूर्ण प्रतियोगिता में बाजार में कीमत का निर्धारण किस प्रकार होता है?
5. सीमान्त आगम व सीमान्त लागत की रीतियों का सचित्र वर्णन कीजिये।
6. पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के सन्तुलन की प्रमुख विधियों का वर्णन कीजिये।
7. पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकाल में फर्म की संस्थिति की विवेचना कीजिये।
8. अल्पाधिकार बाजार में मूल्य व उत्पादन के निर्धारण की मूल्य विधियों की विवेचना कीजिये।
9. पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण प्रतियोगिता में भेद कीजिये। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के संतुलन की विवेचना कीजिये।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- प्रेम आहूजा एवं एच. एल. आहूजा : *उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त* ; एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली (हिन्दी एवं अग्रेजी)।
- प्रो. वी.. सी. सिन्हा; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; प्रयाग पुस्तक भवन; इलाहाबाद ।
- एस. एन. लाल एवं एस. के. लाल; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; शिव पब्लिशिंग हाउस; इलाहाबाद ।
- बी. पी. त्यागी; *व्यष्टि अर्थशास्त्र*; राज पब्लिशिंग हाउस; जयपुर ।
- M.L. Jhingan; *Microeconomic theory*; Vrinds Publication (P) Ltd. Delhi; (Hindi & English).
- अमिताभ तिवारी एवं बद्री विशाल त्रिपाठी; *अर्थशास्त्र के सिद्धान्त*; किताब महल, इलाहाबाद।